विवेक-ज्योति

वर्ष ४२ अंक ७ जुलाई २००४ मूल्य रु. ६.००

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर (छ.ग.)

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

जुलाई २००४

प्रबन्ध-सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ४२
अंक ७

वार्षिक ५०/- एक प्रति ६/-

५ वर्षों के लिए — रु. २२५/-

आजीवन (२५ वर्षों के लिए) — रु. १,०००/-

विदेशों में – वार्षिक १५ डॉलर, आजीवन – २०० डॉलर (हवाई डाक से) १०० डॉलर (समुद्री डाक से)

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर – ४९२ ००१ (छ.ग.)

दूरभाष : २२२५२६९, ५०३६९५९, २२२४११९

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग आफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : २५४६६०३)

श्रीरामकृष्ण के दृष्टान्त – २१

रेखांकन – स्वामी आप्तानन्द

दीपक का स्वभाव है प्रकाश देना, पर उसी प्रकाश में कोई रसोई बनाता है, कोई जाली कारवाई करता है, तो कोई भागवत-पाठ करता है। परन्तु प्रकाश इन सब गुण-दोषों से निर्लिप्त है। इसी प्रकार, कोई तो भगवान का नाम लेकर मुक्ति के लिए प्रयत्न करता है और कोई उसी नाम का पाखण्ड रचकर चोरी या ठगबाजी करता है। परन्तु भगवान इन सब से अलिप्त हैं।

ब्रह्म भले-बुरे दोनों से निर्लिप्त है। वह दीपक की ज्योति की तरह है। दीपक के प्रकाश में कोई भागवत पढ़ता है, तो कोई जाली नोट बनाता है, पर दीपक निर्लिप्त रहता है। ब्रह्म मानो साँप के जैसा है। साँप के दाँतों में विष होता है, उसके काटने पर दूसरे लोग मर जाते हैं, पर उससे स्वयं साँप को कुछ नहीं होता। इसी तरह जगत् में दुख, पाप, अशान्ति आदि जो कुछ है, वह सब जीव के लिए है। ब्रह्म इन सब से निर्लिप्त है। भला, बुरा, सत्, असत् सब जीव के लिए है, ब्रह्म के लिए यह सब कुछ भी नहीं, वह इन सब के परे है।

इस जगत् में विद्या-माया और अविद्या-माया दोनों हैं, ज्ञान-भक्ति भी हैं और साथ ही कामिनी-कांचन भी हैं, सत् भी है और असत् भी, भला भी है और बुरा भी, परन्तु ब्रह्म निर्लिप्त है। भला-बुरा जीवों के लिए है और सत्-असत् भी जीवों के लिए है। वह ब्रह्म को स्पर्श नहीं कर सकता।

वर्ष ४२ जुलाई २००४ अंक ७

वैराग्य-शतकम्

निवृत्ता भोगेच्छा पुरुषबहुमानोऽपि गलितः
समानाः स्वर्याताः सपदि सुहृदो जीवितसमाः ।
शनैर्यष्ट्युत्थानं घनतिमिररुद्धे च नयने
अहो मूढः कायस्तदपि मरणापायचकितः ।।९।।

अर्थ – जागतिक विषयों को भोगने की इच्छा दूर हो चुकी है, लोगों द्वारा मुझे दिया जानेवाला मान-सम्मान भी घट चुका है, प्राणतुल्य समवयस्क मित्र हाल ही में स्वर्ग सिधार चुके हैं, अब धीरे-धीरे छड़ी के सहारे ही उठना हो पाता है, आँखें भी घने अन्धकार से रुद्ध हो रही हैं । अहा ! (इसके बावजूद) मेरा यह मूर्ख शरीर मृत्यु का विचार आते ही चौंक उठता है ।

आशा नाम नदी मनोरथजला तृष्णातरंगाकुला
रागग्राहवती वितर्कविहगा धैर्यद्रुमध्वंसिनी।
मोहावर्तसुदुस्तरातिगहना प्रोत्तुङ्गचिन्तातटी
तस्याः पारगता विशुद्धमनसो नन्दन्ति योगीश्वराः ।।१०।।

अर्थ – आशा नाम की एक नदी है, जो मन के संकल्प-विकल्प-रूपी जल से परिपूर्ण है, जिसमें तृष्णा की तरंगें उठ रही हैं, विषयों के प्रति आसक्ति-रूपी मगर निवास करते हैं, भोग्य वस्तुओं की प्राप्ति और अप्राप्ति की चिन्ता-रूपी पक्षी इसमें विहार करते हैं, यह धैर्य-रूपी वृक्ष को उखाड़नेवाली है, अत्यन्त गहरी है तथा इसमें मोह-रूपी दुस्तर भँवर हैं, इसके किनारे चिन्ता-रूपी ऊँचे तट हैं। इसके पार जानेवाले निर्मल चित्त से युक्त श्रेष्ठ योगीगण ही ब्रह्मानन्द का उपभोग करते हैं ।

– भर्तृहरि

श्रीरामकृष्ण-स्तुति

– १ –

(रागेश्री या मारुबिहाग–एकताल)

जय जय जय रामकृष्ण, नवयुग अवतार,
आए हो इस जग में, हरने दुखभार ।।

सुन्दर नरकाया धर, नारायण सजकर नर,
जीवन में दिखलाया, सर्व-धर्म-सार ।।

हो गया विहान मधुर, भागते पिशाच-असुर,
उदयमान बालसूर्य, दूर अन्धकार ।।

वचनसुधा का प्रभाव, फैल रहा सत्त्वभाव,
जन-जन के अन्तर में, प्रेम का प्रचार ।।

आया तज वित्त गेह, सुहृदों का सुखद नेह,
भव-समुद्र से 'विदेह', नाथ करो पार ।।

– २ –

(जौनपुरी–कहरवा)

हे रामकृष्ण भगवान, हम पर कृपा करो ।
तुम सत् चित् आनन्दरूप,
भव की व्यथा हरो ।। हे.

दीनों पर दयादृष्टि करने,
अवतरण तुम्हारा इस जग में,
देकर निज स्नेहाशीष,
जन मन प्राण भरो ।। हे.

मैं भवसागर के बीच पड़ा,
हूँ आतंकित भयभीत बड़ा
देकर निज प्रज्ञाऽलोक,
चित में आ विचरो ।। हे.

यह जीवन लौह-समान समल,
पारसमणि तव मृदु चरण-कमल
छूकर 'विदेह' को आज
कंचन खरा करो ।। हे.

– *विदेह*

गृहस्थ और संन्यासी

स्वामी विवेकानन्द

गृहस्थ को ब्रह्मनिष्ठ होना चाहिए तथा ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति ही उसके जीवन का चरम लक्ष्य होना चाहिए। तथापि उसे निरन्तर अपने सब कर्म करते रहना चाहिए – अपने कर्तव्यों का पालन करते रहना चाहिए; और अपने सारे कर्मों के फल ईश्वर के चरणों में अर्पण कर देना चाहिए।

सबसे उत्तम बात यह है कि स्वधर्म का अनुसरण करो। अन्याय मत करो, अत्याचार मत करो, यथासाध्य परोपकार करो। गृहस्थ के लिए अन्याय सहना पाप है, अन्याय का तत्काल प्रतिकार करने की चेष्टा करनी होगी।

बड़े उत्साह के साथ धनोपार्जन कर पत्नी तथा परिवार के लोगों का पालन करना होगा, उनके हित के काम करने होंगे। ऐसा न कर सके, तो तुम मनुष्य किस बात के? जब तुम गृहस्थ ही नहीं हो, फिर मोक्ष की तो बात ही क्या !!

गृहस्थ के लिए अपनी आय को व्यय करने का नियम यह है कि वह अपनी आय का चतुर्थांश परिवार पर, चतुर्थांश दान पर, चतुर्थांश बचत पर और चतुर्थांश स्वयं पर व्यय करे।

यदि कोई मनुष्य ईश्वर-प्राप्ति के लिए संसार से विरक्त हो जाय, तो उसे यह नहीं सोचना चाहिए कि जो लोग संसार में रहकर संसार के हित के लिए कार्य करते हैं, वे ईश्वर की उपासना नहीं करते; और न अपने स्त्री-बच्चों के लिए संसार में रहनेवाले गृहस्थों को ही यह सोचना चाहिए कि जिन लोगों ने संसार का त्याग कर दिया है, वे आलसी और निकम्मे हैं। अपने-अपने स्थान में सभी बड़े हैं।

पश्चिम में विवाह को कानूनी बन्धन के बाहर जो कुछ है, उन सबसे युक्त माना जाता है, जबकि भारत में इसे दो व्यक्तियों को चिर काल तक जोड़े रखने के लिए समाज द्वारा उन पर डाला हुआ बन्धन माना जाता है। उन दोनों को एक-दूसरे को जन्म-जन्मान्तर के लिए वरण करना होगा, चाहे उनकी इच्छा हो या न हो। दोनों एक-दूसरे के आधे पुण्यों के भागी होते हैं। यदि एक इस जीवन में बुरी तरह पिछड़ जाता है, तो दूसरे को तब तक प्रतीक्षा करनी पड़ती है, समय देना पड़ता है, जब तक कि वह फिर बराबर नहीं आ जाता।

पवित्रता ही स्त्री और पुरुष का सर्वप्रथम धर्म है। ऐसा उदाहरण शायद ही कहीं हो कि एक पुरुष – वह चाहे जितना भी पथभ्रष्ट क्यों न हो गया हो – अपनी नम्र, प्रेमपूर्ण तथा पतिव्रता स्त्री द्वारा ठीक रास्ते पर न लाया जा सके। संसार अब भी उतना गिरा नहीं है। हम बहुधा संसार में बहुत-से निर्दय पतियों तथा पुरुषों के भ्रष्टाचरण के बारे में सुनते रहते हैं; परन्तु क्या यह बात सच नहीं है कि संसार में उतनी ही निर्दय तथा भ्रष्ट स्त्रियाँ भी हैं? यदि सभी स्त्रियाँ इतनी शुद्ध और पवित्र होतीं, जितना कि वे दावा करती हैं, तो मुझे पूरा विश्वास है कि सारे संसार में एक भी अपवित्र पुरुष न रह जाता। ऐसा कौन-सा पाशविक भाव है, जिसे पवित्रता और सतीत्व पराजित नहीं कर सकता? एक शुद्ध पतिव्रता स्त्री, जो अपने पति को छोड़कर अन्य सब पुरुषों को पुत्रवत् समझती है तथा उनके प्रति माता का भाव रखती है, धीरे-धीरे अपनी पवित्रता की शक्ति में इतनी उन्नत हो जायेगी कि एक अत्यन्त पाशविक प्रवृत्तिवाला मनुष्य भी उसके सान्निध्य में पवित्र वातावरण का अनुभव करेगा। इसी प्रकार प्रत्येक पति को, अपनी स्त्री को छोड़कर अन्य सब स्त्रियों को माँ, बहन या पुत्री के समान देखना चाहिए, विशेषकर उस व्यक्ति को, जो धर्म-प्रचारक होना चाहता है, यह आवश्यक है कि वह प्रत्येक स्त्री को मातृवत् देखे और उसके साथ सदैव तद्रूप व्यवहार करे।

गृहस्थ ही समाज-जीवन का केन्द्र है। उसके लिए धन कमाना और उसका सत्कर्मों में व्यय करना ही उपासना है। जैसे एक संन्यासी की अपनी कुटी में बैठकर की हुई उपासना उसके मुक्ति-लाभ में सहायक होती है, वैसे ही एक गृहस्थ की भी सदुपाय तथा सदुद्देश्य से धनी होने की चेष्टा उसके मुक्ति-लाभ में सहायक होती है; क्योंकि इन दोनों में ही हम, ईश्वर तथा जो कुछ ईश्वर का है, उस सबके प्रति भक्ति से उत्पन्न हुए आत्मसमर्पण एवं आत्मत्याग का ही प्रकाश पाते हैं; भेद है तो केवल प्रकाश के रूप भर में।

अपने बच्चों को तुम जो देते हो, तो क्या उसके बदले में उनसे कुछ माँगते हो? यह तो तुम्हारा कर्तव्य है कि तुम उनके लिए काम करो, और बस, वहीं पर बात समाप्त हो जाती है। इसी प्रकार, किसी दूसरे पुरुष, किसी नगर अथवा देश के लिए तुम जो कुछ करो, उसके प्रति भी वैसा ही भाव रखो; उनसे किसी प्रकार के प्रतिदान की आशा न रखो। यदि तुम सदैव ऐसा ही भाव रख सको कि तुम केवल दाता ही हो, जो कुछ तुम देते हो, उससे तुम किसी प्रकार के प्रतिदान की आशा नहीं रखते, तो उस कर्म से तुम्हें किसी प्रकार की आसक्ति नहीं होगी।

मेरे गुरुदेव कहा करते थे, "अपने बच्चों के प्रति वही भाव रखो, जो एक दाई की होती है।" वह तुम्हारे बच्चे को गोद में लेती है, खिलाती है और उसको ऐसा प्यार करती है, मानो वह उसी का बच्चा हो। पर ज्योंही तुम उसे काम से अलग कर देते हो, त्योंही वह अपना बोरिया-बिस्तर समेटकर तत्काल घर छोड़ने को तैयार हो जाती है। उन बच्चों के प्रति उसका जो इतना प्रेम था, उसे वह बिल्कुल भूल जाता है। एक साधारण दाई तुम्हारे बच्चों को छोड़कर दूसरे के बच्चों को लेने में तनिक भी दु:ख का अनुभव नही करेगी। अपने बच्चों के प्रति तुम भी यही भाव धारण करो। तुम उनकी दाई हो – और यदि तुम्हारा ईश्वर में विश्वास है, तो जान लो कि जिन्हें तुम अपनी समझते हो, वे सारी वस्तुएँ वस्तुत: ईश्वर की हैं।

गृहस्थ को अपने शत्रु के सामने शूरवीर और गुरु तथा बन्धुओं के समक्ष नम्र होना चाहिए। शत्रु के सम्मुख शूरता प्रकट करके गृहस्थ को उस पर शासन करना चाहिए। यह उसका आवश्यक कर्तव्य है। गृहस्थ को घर में कोने में बैठकर रोना और '**अहिंसा परमो धर्मः**' कहकर खाली बकवास नहीं करना चाहिए। यदि वह शत्रु के सम्मुख वीरता नहीं दिखाता है, तो वह अपने कर्तव्य की अवहेलना करता है।

धीर गृहस्थ को सत्य, मृदु, प्रिय तथा हितकर वचन बोलने चाहिए। वह अपने उत्कर्ष की चर्चा न करे और दूसरों की निन्दा करना छोड़ दे।

उसे सभी प्रकार से यश-अर्जन की चेष्टा करनी चाहिए। जूआ खेलना, दुष्ट व्यक्तियों का संग, असत्य बोलना तथा दूसरों को कष्ट पहुँचाना – उसे कभी नहीं करना चाहिए।

संन्यास या संन्यस्त जीवन

मनुष्य जिस स्थिति में पैदा हुआ है, उसके कर्तव्य जब वह पूरे कर लेता है, जब उसकी आकांक्षाएँ सांसारिक सुख-भोग, धन-सम्पत्ति, नाम-यश, अधिकार आदि को ठुकराकर उसे आध्यात्मिक जीवन की खोज में प्रेरित करती है और जब वह संसार के स्वरूप में पैनी दृष्टि डालकर समझ जाता है कि यह जगत् क्षणभंगुर है, दु:ख तथा झगड़ों से भरा हुआ है और इसके आनन्द तथा भोग तुच्छ हैं, तब वह इन सबसे मुख मोड़कर शाश्वत प्रेम तथा चिरन्तन आश्रयस्वरूप परम सत्य को ढूँढ़ने लगता है। वह समस्त सांसारिक अधिकारों तथा यश-सम्पदा से पूर्ण संन्यास ले लेता है और आत्मोत्सर्ग करके आध्यात्मिकता को निरन्तर ढूँढ़ता हुआ प्रेम-दया-तप तथा शाश्वत ज्ञान प्राप्त करने की चेष्टा करता रहता है। वर्षो के ध्यान, तप और खोज से ज्ञानरूपी रत्न को पाकर वह भी पर्याय-क्रम से स्वयं गुरु बन जाता है, और फिर शिष्यो – गृही तथा त्यागियों – में उस ज्ञान का संचार कर देता है।

संन्यासी का कोई मत या सम्प्रदाय नहीं हो सकता, क्योंकि उसका जीवन स्वतंत्र विचार का होता है और वह सभी मत-मतान्तरों से उनकी अच्छाइयाँ ग्रहण करता है। उसका जीवन साक्षात्कार का होता है, न कि केवल सिद्धान्तों अथवा विश्वासों का, और रूढ़ियों का तो बिल्कुल भी नही।

आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च – 'अपनी मुक्ति तथा जगत् के हित के लिए आत्मोत्सर्ग' – यही संन्यास का यथार्थ उद्देश्य है। इस बात की वेद-वेदान्त घोषणा कर रहे है कि संन्यास ग्रहण न करने से कोई कभी ब्रह्मज्ञ नही हो सकता। जो लोग कहते हैं कि इस संसार का भोग करना है और साथ ही ब्रह्मज्ञ भी बनना है, उनकी बात कभी मत मानो। प्रच्छन्न भोगियो की बातें ऐसी ही भ्रमात्मक होती हैं।

बिना त्याग के मुक्ति नहीं। बिना त्याग के पराभक्ति नहीं।

सांसारिक झगड़ों को बिना त्यागे किसी की मुक्ति नहीं होती। जो गृहस्थाश्रम में बँधे रहते हैं, वे स्वयं यह सिद्ध करते हैं कि वे किसी-न-किसी प्रकार की कामना के दास बनकर ही संसार में फँसे हुए हैं। यदि ऐसा न होगा तो वे संसार में रहेंगे ही क्यों? कोई कामिनी के दास हैं, कोई धन के, कोई मान-यश-विद्या अथवा पाण्डित्य के। इस दासत्व को छोड़कर बाहर निकलने से ही मुक्ति के पथ पर चला जा सकता है। लोग कितना ही क्यों न कहें, पर मै भलीभाँति समझ गया हूँ कि जब तक मनुष्य इन सबको त्यागकर संन्यास नहीं लेता, तब तक उसके लिए किसी भी प्रकार ब्रह्मज्ञान असम्भव है।

बहुजनहिताय बहुजनसुखाय ही संन्यासियों का जन्म होता है। संन्यास ग्रहण करके जो इस ऊँचे लक्ष्य से भ्रष्ट हो जाता है, उसका तो जीवन ही व्यर्थ है – **वृथैव तस्य जीवनम्**। जगत् में संन्यासी क्यों जन्म लेते है? – औरो के निमित्त अपना जीवन उत्सर्ग करने, जीव के आकाश-भेदी क्रन्दन को दूर करने, विधवाओं के आँसू पोंछने, पुत्र-वियोग से पीड़ित अबलाओं के मन को शान्ति देने, सर्वसाधारण को जीवन-संग्राम में समर्थ करने, शास्त्र के उपदेशों को फैलाकर सबका ऐहिक और पारमार्थिक मंगल करने और सबके भीतर जो ब्रह्मसिंह सुप्त है, उसे ज्ञानालोक से जाग्रत करने।

उठो, जागो, स्वयं जगकर औरों को जगाओ। अपने नर-जन्म को सफल करो, **उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान् निबोधत** – "उठो, जागो और लक्ष्य की प्राप्ति होने तक रुको नही।"

मनुष्य-जन्म प्राप्त करके मुक्ति की इच्छा प्रबल होने तथा महापुरुष की कृपा प्राप्त होने पर ही मनुष्य की आत्मज्ञान की आकांक्षा बलवती होती है; नही तो काम-कांचन मे लिप्त व्यक्तियो के मन की उधर प्रवृत्ति ही नही होती। जिसके मन मे स्त्री-पुत्र-धन-मान प्राप्त करने का संकल्प है, उनके मन मे ब्रह्म को जानने की इच्छा कैसे हो? जो सर्वस्व त्यागने को तैयार

है, जो सुख-दु:ख, भले-बुरे के चंचल प्रवाह में धीर-स्थिर, शान्त तथा दृढ़चित्त रहता है, वही आत्मज्ञान के लिए चेष्टा करता है। वही **निर्गच्छति जगज्जालात् पिंजरादिव केसरी** – महाबल से जगद्रूपी जाल को तोड़कर, माया की सीमा को लाँघ सिंह की तरह बाहर निकल जाता है।

आन्तरिक तथा बाह्य – दोनों प्रकार से संन्यास का अवलम्बन करना चाहिए। ... वैराग्य न आने पर, त्याग न होने पर, भोग-स्पृहा का त्याग न होने पर क्या कुछ होना सम्भव है? – वह बच्चे के हाथ का लड्डू तो है नहीं, जो उसे भुलावा देकर छीन कर खा लोगे।

प्रत्येक ज्ञात धर्म में संन्यासी होते रहे हैं और हैं। हिन्दू संन्यासी हैं, बौद्ध संन्यासी हैं, ईसाई पादरी हैं और इस्लाम को भी अपनी इस प्रथा की कठोर अस्वीकृति छोड़नी पड़ी और भिक्षुओं, फकीरों या संन्यासियों की एक सम्पूर्ण शृंखला स्वीकार करनी पड़ी।

किन्तु तब इस एकाकी खड़े होने की, सारी सहायता का तिरस्कार करने की, जीवन की आँधियों का सामना करने की और बिना किसी प्रतिफल या कर्तव्य-पूर्ति की भावना के कर्म करने की अद्‌भुत अनुभूति का क्या होगा? – सारे जीवन आनन्दपूर्वक मुक्त रहकर कर्म करने की अनुभूति; क्योंकि दासों की भाँति मिथ्या मानव-प्रेम या महत्त्वाकांक्षा के अंकुशों से कर्म करने की यह प्रेरणा नहीं है!

इसे तो केवल संन्यासी ही प्राप्त कर सकता है। धर्म का क्या होगा? वह रहेगा या उसे समाप्त होना है? यदि उसे रहना है, तो उसे अपने विशेषज्ञों अपने सैनिकों की आवश्यकता है। संन्यासी धार्मिक विशेषज्ञ है, क्योंकि उसने धर्म को ही जीवन का एकमात्र उद्देश्य बना लिया है। वह भगवान का सैनिक है। कौन-सा धर्म तब तक मर सकता है, जब तक उसमें श्रद्धालु संन्यासियों का समुदाय बना रहता है?

संन्यास की उत्पत्ति कहीं से ही क्यों न हो, इस त्याग-व्रत को अपना कर ब्रह्मज्ञ होना ही मनुष्य जीवन का उद्देश्य है। इस संन्यास ग्रहण में ही परम पुरुषार्थ है। वैराग्य उत्पन्न होने पर जिनका संसार से अनुराग हट गया है, वे धन्य हैं।

यदि आत्मा के जीवन में मुझे आनन्द नहीं मिलता, तो क्या मैं इन्द्रियों के जीवन में आनन्द खोजूँ? यदि मुझे अमृत नही मिलता, तो क्या मैं गड्ढे के जल से प्यास बुझाऊँ?

किसी को राजनीतिक और सामाजिक स्वतंत्रता चाहे मिल जाय, पर यदि वह वासनाओं और इच्छाओं का दास है, तो सच्ची स्वतंत्रता का शुद्ध आनन्द वह नहीं जान सकता।

यदि कोई व्यक्ति जगत् की निस्सार वस्तुओं का त्याग कर देता है, तो लोग उसे पागल कहते हैं। परन्तु ऐसे ही लोग पृथ्वी की संजीवनी होते हैं। ऐसे ही पागलपन से वे शक्तियाँ उत्पन्न हुई हैं, जिन्होंने इस संसार को हिला दिया है, और ऐसे ही पागलपन से भविष्य में ऐसी शक्तियों का जन्म होगा, जो हमारे संसार में उथल-पुथल मचा देंगी।

सच्चे संन्यासी ही गृहस्थों के उपदेशक हैं। उन्हीं से उपदेश और ज्ञानालोक प्राप्त करके प्राचीन काल में गृहस्थ लोग जीवन-संग्राम में सफल हुए थे। संन्यासियों को अनमोल उपदेश के बदले गृहस्थ अन्न-वस्त्र देते रहे हैं। यदि ऐसा आदान-प्रदान न होता तो इतने दिनों में भारतवासियों का भी अमेरिकी आदिवासियों के समान लोप हो जाता। संन्यासियों को मुट्ठी भर अन्न देने के कारण ही गृहस्थ लोग अभी तक उन्नति के मार्ग पर चले जा रहे हैं। संन्यासी लोग कर्महीन नहीं, वरन् वे ही कर्म के स्रोत हैं। उनके जीवन या कार्यों में ऊँचे आदर्शों को परिणत होते देख और उनसे उच्च भावों को ग्रहण कर गृहस्थ लोग इस संसार के जीवन-संग्राम में समर्थ हुए तथा हो रहे हैं। पवित्र संन्यासियों को देखकर गृहस्थ भी उन पवित्र भावों को अपने जीवन में परिणत करते हैं और ठीक-ठीक कर्म करने को तत्पर होते हैं। संन्यासी अपने जीवन में ईश्वर तथा जगत् के कल्याण के निमित्त सर्वत्याग रूप तत्त्व को प्रतिफलित करके गृहस्थों को सब विषयों में उत्साहित करते हैं और इसके बदले वे उनसे मुट्ठी भर अन्न लेते हैं। फिर उसी अन्न को उपजाने की प्रवृत्ति और शक्ति भी देश के लोगों में सर्वत्यागी संन्यासियों के स्नेहाशीर्वाद से ही बढ़ रही है। बिना विचारे ही लोग संन्यास-प्रथा की निन्दा करते हैं। अन्य देशों में चाहे जो हो, पर यहाँ तो संन्यासियों के पतवार पकड़े रहने के कारण ही संसार-सागर में गृहस्थों की नौका नहीं डूबने पाती।

किसी भी उद्देश्य की सिद्धि के लिए हमें कुछ साधनों का आश्रय लेना होता है। स्थान, काल, व्यक्ति आदि के भेद से ये साधन बदलते रहते हैं, परन्तु उद्देश्य या लक्ष्य कभी बदलता नहीं। संन्यासियों का लक्ष्य है – **आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च** – अपनी मुक्ति और जगत् का कल्याण – और इस उद्देश्य -सिद्धि के साधनों में काम-कांचन-त्याग सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तथा आवश्यक है। ध्यान रखो, त्याग का अर्थ है – स्वार्थ का पूर्ण अभाव। बाह्य रूप से सम्पर्क न रखने से ही त्याग नहीं हो जाता। जैसे, हम अपना धन दूसरे के पास रखें और स्वयं

उसे न छूएँ, पर उसका पूरा लाभ उठायें, तो क्या यह त्याग कहला सकता है? उपर्युक्त दो उद्देश्यों की सिद्धि हेतु संन्यासी के लिए भिक्षावृत्ति बहुत ही उपयोगी है, पर यह तभी सम्भव है, जब गृहस्थ लोग मनु और अन्य शास्त्रकारों के वचनानुसार प्रतिदिन अपने खाद्य-पदार्थों का एक भाग संन्यासी अतिथियों के लिए रख छोड़ें। अब समय बहुत बदल गया है, जैसे कि माधुकरी की प्रथा – विशेषत: बंगाल में – देखने में नहीं आती। यहाँ (बंगाल में) माधुकरी द्वारा निर्वाह की चेष्टा करना शक्ति का अपव्यय मात्र होगा और उससे कोई लाभ न होगा। भिक्षा का नियम ऊपर कहे दोनों उद्देश्यों की सिद्धि का साधन मात्र है, पर अब उससे काम नहीं चल सकता। अत: आधुनिक परिस्थितियों में, यदि संन्यासी जीवन की मोटी-मोटी जरूरतों के लिए कुछ प्रबन्ध कर ले और निश्चिन्त होकर अपनी सारी शक्ति अपने ध्येय की सिद्धि में लगाये, तो यह संन्यास के नियमों के विरुद्ध न होगा। साधनों को ही बहुत अधिक महत्त्व देने से गड़बड़ी उत्पन्न हो जाती है। असल वस्तु तो साध्य है – लक्ष्य है, इसे कभी ओझल नहीं होने देना चाहिए।

अमेरिका में वर्ष में केवल छह मास प्रत्येक रविवार को केवल दो घण्टे ही धर्मोपदेश देने के लिए पादरी लोग वार्षिक तीस हजार, चालीस हजार और कभी कभी तो नब्बे हजार तक वेतन पाते हैं। देखो, अमेरिकन लोग अपने धर्म की रक्षा के लिए कैसे करोड़ों रुपये बहा देते हैं और बंगाल के युवकों को यह शिक्षा दी गयी है कि ये देवतुल्य परम नि:स्वार्थ कमलीवाले बाबा सरीखे सन्त आलसी और आवारा लोग हैं। **मद्भक्तानाञ्च ये भक्तास्ते मे भक्ततमा मता:** – जो मेरे भक्तों के भक्त हैं, उन्हें मैं अपना सबसे श्रेष्ठ भक्त मानता हूँ।

अब एक दूसरा उदाहरण लो – मान लो, एक अत्यन्त अज्ञानी वैरागी है। वह भी किसी गाँव में पहुँचेगा तो तुलसीकृत रामायण, चैतन्य-चरितामृत और यदि दाक्षिणात्य हुआ, तो दक्षिण के आलवार ग्रन्थों में से जो कुछ भी जानता होगा, उसे ग्रामवासियों को सिखाने का भरसक प्रयत्न करेगा। क्या ऐसा करने से कोई उपकार नहीं होता? और यह सब केवल रोटी के टुकड़े और लँगोटी के कपड़े के बदले में हो जाता है। इन लोगों की निर्दयतापूर्ण समालोचना करने से पूर्व, मेरे भाइयो! जरा यह तो सोचो कि तुमने अपने गरीब देश-वासियों के लिए क्या किया है, जिनके खर्च से तुमने अपनी शिक्षा पायी, जिनका शोषण करके तुम अपने पद-गौरव को कायम रखते हो और 'बाबाजी लोग केवल घुमक्कड़ होते हैं' – यह सिखाने के लिए अपने शिक्षकों को वेतन देते हो!

संन्यासी का धनियों से कोई वास्ता नहीं, उसका कर्तव्य तो गरीबों के प्रति होता है। उसे निर्धनों के साथ प्रेमपूर्ण आचरण करना चाहिए और सारी शक्ति लगाकर सहर्ष उनकी सेवा करनी चाहिए। धनिकों का आदर-सत्कार और आश्रय के लिए उनका मुँह जोहना हमारे देश के सभी संन्यासी-सम्प्रदायों के लिए अभिशाप-सा रहा है। सच्चे संन्यासी को इस बात से बड़ा सावधान रहना चाहिए और इससे पूर्णत: बचकर रहना चाहिए। ऐसा व्यवहार तो वेश्याओं के लिए ही उचित है, न कि संसार-त्यागी संन्यासी के लिए।

एक संन्यासी जब तक सर्वोच्च पद पर न पहुँच जाय, अर्थात् परमहंस न हो जाय, तब तक उसे गृहस्थों द्वारा छुए या उपयोग में लाये भोजन, बिछावन आदि से बचना चाहिए, उनके प्रति घृणा की भावना से नहीं, वरन् स्वयं की रक्षा हेतु।

संन्यासी की सच्ची कसौटी है, संसार में रहना किन्तु संसार का न होना।

छेड़ दो संन्यासी वह तान,
हिमालय से नि:सृत जो गान,
गुँजा डालो इस ध्वनि से व्योम
ॐ तत्सदोम् ॐ तत्सदोम्।।

वहाँ होता न सत्य आभास
जहाँ हो काम-लोभ-यश-आस।
पूर्णता कभी न आए पास
नारि में जिसको पत्नी-भास।।
अल्प भी जिसमें संग्रह-बोध
और अथवा करता हो क्रोध।
बन्द है उसका माया द्वार
मगर सब त्याग, करो तुम पार।। गुँजा.।।

ढूँढ़ते कहाँ मुक्ति-आलोक
इसी जग में अथवा परलोक।
पुस्तकों, मन्दिर में या चर्च
तुम्हारी खोज रहेगी व्यर्थ।।
तुम्हारे हाथों ही वह सूत्र
खींचती है जो तुमको मित्र।
अत: कर खेद हृदय का नाश
छोड़ दो अपना बन्धनपाश।। गुँजा.।।

करो मत अपने घर की साध
नहीं गृह तुमको रखता बाँध।
गगन छत जान बिछौना घास
खाद्य जो आए बिना प्रयास।।
स्पर्श कर सके न आत्मा आद्य
भला या बुरा, पेय औ' खाद्य।
निरन्तर चलते रहना बन्धु
नदी की भाँति, लक्ष्य हो सिन्धु।। गुँजा.।।

❑❑❑

धनुष-यज्ञ का तात्पर्य (६/१)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(आश्रम द्वारा जनवरी २००२ ई. मे आयोजित विवेकानन्द-जयन्ती-समारोह के समय पण्डितजी ने 'धनुष-यज्ञ' पर ७ प्रवचन दिये थे। प्रस्तुत लेख उसके पाँचवे प्रवचन का पूर्वार्ध है। टेप से इसे लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है। – सं.)

संसार के किसी भी शक्तिशाली व्यक्ति के लिए भगवान शिव के धनुष को तोड़ पाना सम्भव नहीं था। महाराज जनक के हृदय मे प्रबल नैराश्य का उदय हुआ – मैंने अपनी कन्या के लिए योग्य वर को दृष्टिगत रखकर ऐसी प्रतिज्ञा की थी, तब मुझे कहाँ पता था कि पृथ्वी वीरों से शून्य हो गई है। श्री लक्ष्मण इस नैराश्य भरी वाणी को सुनकर क्षुब्ध होते हैं और जिन शब्दों में उन्होंने जनक जी को फटकारा या समझाया, उससे सभा में एक नई दृष्टि, एक नया दृश्य उपस्थित हो गया। तब महर्षि विश्वामित्र ने श्रीरामभद्र से कहा – राम, तुम उठकर इस भवधनु को तोड़ो। धनुष टूटा तब महाराज जनक और मिथिलावासियों का नैराश्य दूर हुआ।

यह प्रसंग सभी दृष्टियों से यह उद्‌बोधक और प्रेरक है। इस धनुष-यज्ञ के पहले ही यह वर्णन आया है कि पुष्प-वाटिका में भगवान श्रीराम भगवती जानकी के मुखचन्द्र को देखकर अपलक देखते रह जाते हैं। उनके सौन्दर्य-छवि का पान करते हैं, उनका चिन्तन करते हैं। और वे इस सभा में होते हुए भी प्रशान्त भाव से बैठे हुए हैं। अब इसको आप एक भिन्न दृष्टि से भी देख सकते है।

'मानस' में इस विवाह के प्रसंग को गोस्वामी जी ने बड़े व्यापक दृष्टि से प्रस्तुत किया है। ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी महाराज जब विद्यमान थे, तब उनका आग्रह था कि छह महीने तक प्रवचन निरन्तर चले। वह तो मेरे लिए सम्भव नहीं था, पर एक महीने तक रामकथा कहने का सौभाग्य मुझे मिला था और उसमें विवाह-प्रसंग की व्यापक रूप से चर्चा की गई थी। पर सचमुच मैं ऐसा यंत्र हूँ कि जिसको ऐसा अनुभव ही नहीं होता कि मुझे क्या कहना है और क्या कहा जा चुका है। सहज भाव से प्रभु जैसा कहलाना चाहते हैं, कहला देते हैं। उस समय भी एक महीने तक चर्चा हुई थी। परन्तु उस प्रसंग का यह स्वरूप आप सुन रहे हैं और मैं भी सुन रहा हूँ। वक्ता के आसन पर बैठा हुआ, वक्ता के रूप में बोलते हुए भी मैं यही सोचता रहता हूँ कि आज प्रभु इस यंत्र के द्वारा किस रहस्य का उद्‌घाटन कराना चाहते हैं! यह एक प्रक्रिया है।

यह विवाह अथवा धनुष-यज्ञ का प्रसंग इतना व्यापक और विलक्षण है कि आप जिस दृष्टि से प्रेरणा लेना चाहें, उसी दृष्टि से प्रेरणा पा सकते हैं। इस प्रसंग में पुष्प-वाटिका-प्रसंग, धनुष-यज्ञ-प्रसंग और महाराज जनक के द्वारा निर्मित मण्डप में कन्यादान के रूप में सम्पन्न होनेवाला विस्तृत प्रसंग आपके सामने अनेक विलक्षण स्वरूप प्रस्तुत करता है। पहला प्रश्न तो यही है कि यदि भगवान राम जनक-नन्दिनी से इतना प्रेम करते है, संध्या में भी चिन्तन करते हैं, तो यहाँ शान्त भाव से क्यों बैठे हैं? और विश्वामित्र जी के आदेश के बाद ही प्रभु क्यों उठे? अब यहाँ विशेष रूप से उस सूत्र पर विचार करें कि यह जो धनुष-यज्ञ का प्रसंग चल रहा है, इसके मूल में महाराज जनक की प्रतिज्ञा है। जनक जी निर्गुण निराकारवादी तत्त्वज्ञ हैं। निष्काम कर्मयोगी हैं। उस सभा में जो परीक्षा है और जो घटनाएँ घटित होती हैं, बहिरंग रूप से वे जैसी प्रतीत होती हैं, उससे और भी अनोखे तथा भिन्न रूप में गोस्वामी जी ने उसे प्रस्तुत किया है।

पहला सूत्र तो यह है कि जो ईश्वर की सत्ता में विश्वास करते हैं, उनमें परस्पर मतभेद और तर्क-वितर्क की बातें सामने आती हैं कि यदि ईश्वर है तो उसका स्वरूप क्या है? स्वभाव क्या है? कहाँ निवास करता है? तब आप विभिन्न सम्प्रदायों के ग्रन्थों में, आचार्यों के द्वारा भिन्न भिन्न रूपों में प्राप्त करते हैं। हमारे यहाँ जो प्रसिद्ध आचार्य हैं, भगवान श्री शंकराचार्य, भगवान श्री रामानुजाचार्य, महाप्रभु श्री वल्लभाचार्य, परम भागवत श्री मध्वाचार्य, इन आचार्यों ने ईश्वर के सम्बन्ध में जो विचार प्रस्तुत किए हैं, उसमें भिन्नता है। जिज्ञासुओं के मन में यह संशय उत्पन्न होना स्वाभाविक है कि इन आचार्यो में परस्पर यदि इतना मतभेद है, तो हम इसे किस रूप में और कैसे स्वीकार करें?

गोस्वामी जी ने इस प्रश्न का उत्तर कई रूपों में प्रस्तुत किया है। उसमें एक उत्तर यह है जिसके लिए दो शब्दों का प्रयोग आपको मिलेगा – तत्त्व और रुचि। तत्त्व शब्द का अर्थ है – जो वस्तु हमें जैसी दिखाई देती है, वह वस्तुत: वैसी है क्या? और रुचि का अर्थ है कि हमारी जो एक रस लेने की वृत्ति है, उसमें हमें क्या रुचिकर लगता है। अब उसे चाहे ईश्वर-तत्त्व कहिए चाहे कुछ और, नामकरण भी अलग-अलग हैं। उसका विस्तृत विश्लेषण सुनकर लोग ऊब जाएँगे। उसे

ब्रह्म भी कहा गया है, ईश्वर भी कहा गया है और उनके लिए भगवान शब्द का भी प्रयोग किया गया है। साधारण व्यक्तियों को इन नामों में कोई अन्तर नहीं पड़ता। परन्तु उस पर सैद्धान्तिक रूप से जिन लोगों ने विचार किया है, उनके लिए इन शब्दों में अलग अलग अर्थ और अलग अलग अनुभूति का रहस्य छिपा हुआ है।

'मानस' एक ऐसा ग्रन्थ है, जो किसी एक सम्प्रदाय के समर्थन में नहीं प्रस्तुत किया गया है। इसमें किसी समुदाय की निन्दा नहीं है। यदि किसी सम्प्रदाय के आचार्यों ने किसी एक रूप में उसका प्रतिपादन किया और अन्य मतों का खण्डन किया, तो यह भी एक प्रक्रिया है और उसके द्वारा भी उस रुचि और संस्कार से प्रेरित व्यक्ति लाभ प्राप्त करते हैं। ऐसी स्थिति में इसकी भी आवश्यकता है।

व्यक्ति को यदि कह दिया जाय कि यह भी ठीक है वह भी ठीक है, तो वह उलझन में पड़ जाता है कि अब मैं क्या करूँ? जब आचार्य लोग आग्रहपूर्वक कहते हैं कि यही ठीक है, तो व्यक्ति उसे स्वीकार करके मानो स्वयं को सन्तुष्ट करता है। इसीलिए गोस्वामी जी ने कहा कि जब प्रभु का प्राकट्य हुआ और महाराज दशरथ ने गुरु वशिष्ठ जी को आमंत्रित करके कहा कि आप इस बालक का नामकरण कीजिए, आप तो सर्वज्ञ हैं, आपने इनके लिए जिस नाम की परिकल्पना की होगी, आपने पहले से ही मन में इनका नाम सोच रखा होगा, अब आप कृपा करके उनका उच्चारण कीजिए, ताकि सभी लोग इन्हें उन नामों से पुकार सकें। और तब गुरु वशिष्ठ ने महाराज दशरथ से कहा – राजन्! तुम्हारे ये पुत्र तो वस्तुतः वेद के तत्त्व हैं –

बेद तत्त्व नृप तव सुत चारी ।। १/१९८/१

'तत्त्व' शब्द का प्रयोग किया। फिर बोले – जो मुनियों के धन, भक्तों के सर्वस्व और शिवजी के प्राण हैं, उन्होंने अब बाललीला के रस में सुख माना है। हे राजन्! इनके अनेक नाम हैं, फिर भी मैं अपनी बुद्धि के अनुसार कहूँगा –

मुनि धन जन सरबस सिव प्राना ।
बाल केलि रस तेहिं सुख माना ।। १/१९८/२
इन्ह के नाम अनेक अनूपा ।
मैं नृप कहब स्वमति अनुरूपा ।। १/१९७/४

एक भौतिक दृष्टान्त लें – जिस स्वर्ण के द्वारा आभूषण बनाए जाते हैं, वह स्वर्ण खान में मिलता है और जब सामने आता है, तब उसका नाम स्वर्ण है। लेकिन वही स्वर्ण जब आभूषण-निर्माता स्वर्णकार और आभूषण-विक्रेता सराफ के हाथ में आता है, तो अन्य नाम धारण कर लेता है। जब आप दुकान में जाते हैं, तब आभूषण का नाम लेकर कहते हैं कि मुझे यह चाहिए। अब उसका सीधा तात्पर्य यह है कि तत्त्वतः तो सब आभूषण सोने के बने हुए हैं, इसलिए उसका मूल तत्त्व तो स्वर्ण है, पर व्यक्ति जब उसको धारण करता है, तो उसे स्वर्ण के रूप में नहीं पहना जा सकता। शरीर में विभिन्न अंग-प्रत्यंग हैं और उन अंग-प्रत्यंगों के लिए सोने से अनेक प्रकार के आभूषण बनते हैं, उसके कई रूप होते हैं, कई प्रभेद होते हैं। अब किस व्यक्ति को किस आभूषण की आवश्यकता है और उस आभूषण का कौन-सा रूप उसको रुचिकर प्रतीत होता है, इसमें अन्तर होता है।

वस्तुतः एक ओर तो ब्रह्म-तत्त्व है और दूसरी ओर जब आचार्य और सन्त द्वारा उस ब्रह्मतत्त्व का निरूपण किया जाता है, तो मानो रुचि और आवश्यकता के अनुकूल उसी ब्रह्मतत्त्व का निरूपण होता है। जिस व्यक्ति को वह जिस रूप में प्रिय प्रतीत होता है, उस रूप में उससे कहा जाता है और वह बड़ी प्रसन्नता के साथ उसे स्वीकार करता है, ग्रहण करता है। वस्तुतः यदि हम इस बात को ध्यान में रख लें कि यह ब्रह्मतत्त्व तो स्वयं में तत्त्व है और अनिर्वचनीय है, परन्तु वह अनेक अवतारों के रूप में या महात्माओं के द्वारा निरूपित किया गया है। गुरु वशिष्ठ ने महाराज दशरथ से यही कहा कि आपके ये पुत्र तो वेद के तत्त्व हैं। चार पुत्र और चार वेद – तुम्हारे ये चार पुत्र मानो वेद के चार तत्त्व हैं। अब यदि आप इस 'चार' को लेकर देखें, तो मानस में भी इसकी व्याख्याएँ पा सकते हैं। वैसे इस प्रसंग में गुरु वशिष्ठ कहते हैं कि ये वेद के चार तत्त्व हैं।

विवाह-प्रसंग में श्रीराम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न – इन चारों रूपों को देखकर कहा गया है कि ऐसा लगता है मानो चार प्रकार के मुक्ति के स्वरूप ही इन चारों के रूप में दिखाई दे रहे हैं। फिर महाराज जनक के मण्डप में विवाह के सन्दर्भ में कहा गया कि यह तो चारों अवस्थाओं का उनके स्वामियों से मिलन है। फिर यह भी कहा गया कि ये चार फल अर्थात् अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष है –

मुदित अवधपति सकल सुत
बधुन्ह समेत निहारि ।
जनु पाए महिपाल मनि
क्रियन्ह सहित फल चारि ।। १/३२५

तात्पर्य यह कि चार की व्याख्या आप अपनी आवश्यकता, रुचि, संस्कार के अनुसार कर लीजिए। अब इस व्याख्या से यदि हम विवाद और झगड़े में पड़ जायँ कि नही, हम जो कह रहे हैं वही सही है, तो निर्णय क्या होगा? सिर फूटेंगे। परस्पर टकराहट होगी। पर हाँ, यह निर्णय आप कर लीजिए कि इन चारों को आप किस रूप मे देखकर सन्तोष या प्रेरणा प्राप्त करते हैं। इसीलिए गुरु वशिष्ठ ने पहले ही स्पष्ट कर दिया कि ये वेद-तत्त्व हैं और साथ ही उन्होंने कहा कि इनका

एक नाम नहीं, अनेक नाम हैं और सभी नाम अद्‌भुत हैं। उन नामो में से चार नाम मैं तुम्हारे पुत्र के रूप में, बालक के रूप में दिखाई देनेवालों को दे रहा हूँ। उन्होंने उस श्याम वर्ण के साँवले-सलोने बालक को देखकर कहा – ये जो आनन्द के समुद्र और सुख की राशि हैं, इनका नाम मैं 'राम' रखता हूँ, जो सभी लोकों को शान्ति प्रदान करनेवाला है –

जो आनन्द सिन्धु सुखरासी ।
सीकर तें त्रैलोक सुपासी ।।
सो सुख धाम राम अस नामा ।
अखिल लोक दायक बिश्रामा ।। १/१९७/५-६

फिर उन्होंने श्री भरत की ओर दृष्टि डाली और कहा – जो विश्व का भरण पोषण करनेवाला है, वह 'भरत' है –

बिस्व भरन पोषन कर जोई ।
ताकर नाम भरत अस होई ।। १/१९७/७

उसके बाद श्री शत्रुघ्न का नामकरण उन्होंने इस रूप में किया – जिसके स्मरण मात्र से शत्रुओं का नाश हो जाता है, उसका 'शत्रुघ्न' नाम होगा –

जाके सुमिरन तें रिपु नासा ।
नाम सत्रुहन बेद प्रकासा ।। १/१९७/८

अन्त में उन्होंने श्री लक्ष्मण का नामकरण इस रूप में किया – जो शुभ लक्षणों के धाम हैं, श्रीराम के प्रिय है, और सारे जग के आधार हैं, उन्हें सर्वश्रेष्ठ 'लक्ष्मण' नाम दिया –

लच्छन धाम राम प्रिय सकल जगत आधार ।
गुरु बसिष्ट तेहि राखा लछिमन नाम उदार ।। १/२९७

गुरु वशिष्ठ का अभिप्राय मानो यह है कि जो विद्वान् हैं, उन्हें इस विवाद में पड़कर तर्क-वितर्क करने दें, उनकी जो बुद्धि है, उनकी जो विश्लेषण-क्षमता है और उसका उपयोग यदि वे अपनी प्रतिभा का परिचय देने में करते हैं, तो वह खण्डनीय तो नहीं है; परन्तु हमारी भावना और संस्कार के अनुरूप, हमें तो यह देखना है कि उस ब्रह्म, ईश्वर, भगवान के अनगिनत नामों में से हमें कौन-सा नाम प्रिय है और यही संकेत विवाह-प्रसंग में दिखाई देता है।

अब तुलनात्मक दृष्टि से विचार करके देखें। पुष्प-वाटिका-प्रसंग में, जहाँ पर श्रीरामभद्र पुष्पवाटिका में आए भी, तो गुरु की आज्ञा से आए। श्रीरामभद्र को लगा कि श्री गुरुदेव के पूजन का समय हो गया है, अत: उन्होंने गुरुदेव के चरणों में प्रणाम करके निवेदन किया – यदि आपकी आज्ञा हो तो मैं और लक्ष्मण वाटिका से पुष्प ले आवें –

समय जानि गुर आयसु पाई ।
लेने प्रसून चले दोऊ भाई ।। १/२२७/२

इस प्रकार गुरु की भूमिका सर्वत्र है। श्रीराम ताड़का पर बाण तब चलाते हैं, जब गुरुदेव आज्ञा देते हैं। अहल्या का उद्धार तब करते हैं, जब गुरुदेव का आदेश मिलता है, पुष्प-वाटिका में भी श्रीराम गुरु की आज्ञा लेकर जाते हैं और इस धनुष-यज्ञ के मण्डप में भी श्रीराम द्वारा धनुष तोड़े जाने की प्रक्रिया के वर्णन में विश्वामित्र जी उनसे कहते हैं – राम, उठो, धनुष को तोड़ो।

अब इन सारे प्रसंगों का मूल सूत्र यह है कि सबके मूल में विश्व के परम मित्र और हितकारी विश्वामित्र हैं। उनकी भूमिका बड़े महत्त्व की है। यही मानो सन्त और सद्‌गुरु की भूमिका है। शास्त्रों में और मानस में सन्त की महिमा का इतना गुणगान किया गया, गुरु को इतना सम्मान दिया गया कि साक्षात् ब्रह्मा, विष्णु, शिव तथा ब्रह्म तक कहा गया –

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः गुरुर्देवो-
महेश्वरः गुरुर्साक्षात्परब्रह्म .... ।।

और यहाँ तक कह दिया गया – चाहे कोई ब्रह्मा या शिव के समान ही क्यों न हो, परन्तु गुरु के बिना वह भवसागर पार नहीं कर सकता –

गुर बिनु भव निधि तरइ न कोई ।
जौं बिरंचि संकर सम होई ।। ७/९३/५

इसके पीछे एक विशेष तात्पर्य है। अब उस तात्पर्य को भी अनेक रूपों में देखा जा सकता है और सर्वत्र उस भूमिका में एक समानता और एक अन्तर है। उसको इस दृष्टि से विचार करके देखें कि साधारणत: ईश्वर के निवास के सम्बन्ध में जो मान्यता है कि ईश्वर सर्वव्यापी है, जड़-चेतन सबमें विद्यमान है। लेकिन जो तार्किक लोग हैं, वे प्रश्न उठाते हैं और उसका उत्तर देते हैं। जो ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं करते, जो नास्तिक हैं, वे यही कहकर इसका समाधान देते हैं – "वस्तुत: यदि ऐसा कोई ईश्वर होता, तो समाज में जो इतना दु:ख है, इतनी पीड़ा है, इतनी विसंगति है, इतने युद्ध हैं; वे न होते, ईश्वर उनको रोक देता। ईश्वर तो एक कल्पना मात्र है। जो नहीं होना चाहिए वह हो रहा है, इसका अर्थ है कि कोई ईश्वर नहीं है।" इसे वेदान्त-शास्त्र में भिन्न रूप में कहा गया है कि 'होना ही यथेष्ट नहीं है।' इसके लिए उन्होंने एक दृष्टान्त चुना। उन्होंने कहा – यह जो प्रकाश है, यह परिवर्तन से जुड़ा हुआ नहीं है। इसका अभिप्राय है कि इस प्रकाश में बैठकर प्रवचन, भगवत्तत्त्व का विचार-विनिमय हो रहा है और दूसरे प्रकार की जो सभाएँ होती हैं, जिनमें बड़ी असंयत और गाली-गलौज की भाषा का प्रयोग किया जाता है, उनमें भी इसी प्रकार का प्रकाश होता है। प्रकाश तो एक ही है, यह नहीं कि रामकथा हो रही है तो प्रकाश बढ़ जाय और यदि कोई गाली-गलौज कर रहा हो तो अँधेरा हो जाय। इसका अर्थ है कि प्रकाश शक्ति तो है, पर वह हस्तक्षेप नहीं करता। इसीलिए रामायण में वह सूत्र आता है –

विषय करन सुर जीव समेता ।
सकल एक तें एक सचेता ।।
सब कर परम प्रकासक जोई ।
राम अनादि अवधपति सोई ।। १/११६/५-६

श्रीराम प्रकाशक हैं, उन्हें आप चाहे 'ब्रह्म' कह लीजिए या 'परमात्म-तत्त्व' कह लीजिए। ज्ञान का तात्पर्य यही है। जहाँ पर ब्रह्म का वह तात्त्विक रूप है, यदि उसकी तुलना करनी हो, तो प्रकाश से की जा सकती है। प्रकाश तो सबके प्रति समान है। अयोध्या-काण्ड में भी आप वह पंक्ति पाते हैं – वे सम हैं, उनमें न राग है न रोष और न वे किसी का पाप-पुण्य तथा गुण-दोष ही ग्रहण करते हैं –

जद्यपि सम नहिं राग न रोषू ।
गहहिं न पाप पूनु गुन दोषू ।। २/२१९/३

गीता में भी भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं – मैं सर्वत्र सम हूँ; मेरा न कोई प्रिय है और न अप्रिय –

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।। ९/२९

लेकिन उसको अब इस रूप में विचार करके देखिए कि प्रकाश तो सम है, हस्तक्षेप नहीं करता, पर हस्तक्षेप न करने पर भी जो प्रकाश में बैठे हैं, प्रकाश में देख रहे हैं, वे तो उस प्रकाश का सदुपयोग और दुरुपयोग दोनों ही कर सकते हैं। रावण ने जब हनुमान से पूछा – "तुम कौन हो? किसी वानर में यह शक्ति तो हो ही नहीं सकती, जो लंकाधिपति रावण की वाटिका को उजाड़ सके, उसके पुत्र का वध कर सके, राक्षसों को मार डाले। तुम्हारे पीछे कोई-न-कोई बल अवश्य है।" हनुमान जी ने इसका तात्त्विक उत्तर दिया। वे चाहते तो पवनपुत्र के रूप में अपना परिचय दे सकते थे। अंगद से पूछने पर उन्होंने रावण से स्पष्ट कह दिया था –

अंगद नाम बालि कर बेटा ।। ६/२१/३

पर हनुमान जी ने न तो अपना और न ही अपने पिता का नाम बताया। उन्होंने तो दार्शनिक रूप में उत्तर देते हुए इस प्रकार अपना परिचय देना आरम्भ किया –

सुनु रावन ब्रह्माण्ड निकाया ।
पाइ जासु बल बिरचति माया ।। ५/२१/४

इस तरह से क्रम से आते आते उन्होंने कहा – "रावण, जो प्रश्न तुमने मुझसे किया कि इतना सामर्थ्य एक बन्दर में नही हो सकता, जो मेरा बाग उजाड़ दे, मेरे पुत्र और सैनिकों को मार दे, तुमने किसके बल से यह सब किया? तो हे रावण, मुझे देखकर यदि तुमने अपने बारे में सोचा होता कि तुम्हारी जो अपनी शक्ति-सामर्थ्य है, वह कहाँ से आई? मुझे देखकर तुम्हें ऐसा लगा कि अपनी शक्ति से कोई ऐसा नहीं कर सकता, तो यही प्रश्न यदि तुम अपने विषय में भी कर लेते, तो तुम्हें स्वयं उत्तर मिल जाता। बड़ा सुन्दर है हनुमान जी का उत्तर – "मेरे और तुम्हारे पीछे कोई दो अलग-अलग बल नहीं हैं। जिस बल के द्वारा तुमने सारे चराचर को जीत लिया, जिसके बल के कण मात्र से तुमने संसार को जीत लिया, उसी के बल से मैंने तुम्हारी वाटिका उजाड़ी –

जाके बल लवलेस तें जितेहु चराचर झारि ।। ५/२१

दो बल नहीं हैं, तो रावण और हनुमान जी में भेद क्या है? अच्छे और बुरे में, सन्त और असन्त में भेद क्या है? इसका भी उत्तर देते हुए हनुमान जी कहते हैं – मैं उन्हीं श्रीराम का दूत हूँ, जिनकी पत्नी का तुमने हरण किया है। तुममें और मुझमें बस यही अन्तर है –

तासु दूत मैं जा करि हरि आनेहु प्रिय नारि ।। ५/२१

अच्छे और बुरे, सन्त और असन्त का भेद अब स्पष्ट हो गया। वह भेद यह है कि ईश्वर ही सबका परम प्रकाशक है, वही सबको शक्ति देनेवाला है। पर रावण वह है कि उसने जिससे शक्ति पाई है, उन्हीं की शक्ति से उन्हीं की शक्ति को चुराने की चेष्टा की और हनुमान जी उन्हीं की शक्ति से उन्हीं की शक्ति की खोज में आए हुए हैं। भेद बस इतना ही है।

तात्पर्य यह कि यदि आप प्रकाश का दुरुपयोग करते हैं, तो प्रकाश भले ही न बुझे, पर उस प्रकाश से आप स्वयं को हानि पहुँचा रहे हैं। और यदि आप प्रकाश का सदुपयोग कर रहे हैं, तो आपके जीवन में प्रकाश कल्याणकारी है। ईश्वर का परम प्रकाशक रूप निरपेक्ष है। पर उस निरपेक्षता को भक्तो ने अपनी अलग-अलग आवश्यकता के अनुरूप अलग-अलग रूपों में स्वीकार किया है। उसके लिए रामायण में 'तत्त्व' के साथ दूसरा शब्द है 'रुचि'। जैसे भोजन तो गिनी-चुनी वस्तुओं से ही बनता है, पर उन्हीं वस्तुओं से बनने पर भी किसी को एक प्रकार का भोजन चाहिए और किसी को अन्य प्रकार का। अन्न वही है, पर पाककला के द्वारा भोजन के प्रकार का विस्तार होता है और भिन्न-भिन्न स्वादों की अनुभूति होती है। इसका अभिप्राय यह है कि ब्रह्म स्वयं भले ही परम प्रकाशक हो, पर भक्तों ने, सन्तों ने, आचार्यो ने उसे अपनी रुचि के अनुरूप जाना, माना, पाया और उसका वर्णन किया। रामायण एक अनोखा प्रकाशक ग्रन्थ है।

भगवान को पाने की आकांक्षा मनु में भी है, और सतरूपा में भी, पर यदि भेद की दृष्टि से देखें, तो मनु पुरुष है और सतरूपा स्त्री। आज कहा जाता है कि पुरुष और स्त्री समान हैं। यह कोई नई बात नही है, वे तो सदा से समान हैं। दोनों ही भगवान को पाने के लिए एक-दूसरे के सहयोगी के रूप मे गए। साधना में भी बहुत कुछ समानता थी, पर भगवान पहले तो प्रगट ही नही हुए, वहाँ भी प्रश्न उठा कि उन्हे तत्त्वत: क्या कहें, उनका क्या रूप है? इसलिए वेदो में तत्त्व का निरूपण करते हुए – **नेति नेति** – ऐसा नही है, ऐसा नही है

– कहा गया। वे यह नहीं कहते कि ऐसा है –

नेति नेति जेहि बेद निरूपा ।
निजानन्द निरुपाधि अनूपा ।। १/१४४/५

इन दोनों ने भी भगवान से प्रार्थना करते हुए यही कहा और उनके लिए दो शब्द चुने – हे कल्पतरु, हे कामधेनु –

सुनु सेवक सुरतरु सुरधेनू । १/१४६/१

कल्पतरु का गुण है कि जो कल्पना होगी उसको वह पूरा करेगा और कामधेनु का भी गुण यही है कि जो कामना होती है, उसको वह पूर्ण करती है। जब दोनों में एक ही गुण है, तो भगवान के लिए कल्पतरु और कामधेनु में से कोई एक ही शब्द कह देते। पर नही, फिर वही संस्कार की बात आ गई। यहाँ भी समानता की बात आती है, आजकल तो इसको बड़े विवाद का विषय बना लिया गया है। तो कामधेनु है स्त्रीलिंग और कल्पतरु पुल्लिग। यहाँ पर जो साधना-उपासना कर रहे हैं, उनमें एक स्त्री है और एक पुरुष। यदि कहें कि भगवान कल्पतरु हैं, तो वे मानो पुरुष हो जायेंगे और यह स्त्री-भावना का अनादर होगा। और यदि उन्हें कामधेनु कहें, तो वे स्त्री-रूप हो जायेंगे और पुरुष को अमान्य होंगे। इसलिए वे कल्पवृक्ष भी है और कामधेनु भी। मनु के लिए यदि कल्पतरु हैं, तो सतरूपा के लिए कामधेनु।

उसके बाद फिर वही वर्णन आया। भगवान का अभिप्राय था – "मनु ! तुम तो महानतम विचारक हो, स्मृति-निर्माता हो और मैं तो निर्गुण-निराकार हूँ। अब यदि तुम मेरा रूप देखना चाहते हो, तो तुम्हें ही बताना होगा कि तुम मुझे किस रूप में देखना चाहते हो?"

तब उन्होंने प्रार्थना की और उनके सामने भगवान श्रीराम और सीताजी आए। यहाँ पर भी सूत्र वही है। अकेले श्रीराम नहीं आए, साथ में सीताजी भी आईं। ब्रह्म स्त्री हैं या पुरुष? आजकल तो जाति के आधार पर, पुरुष-स्त्री के आधार पर न जाने किस तरह से विवाद खड़ा किया जाता है। ईश्वर तो राम के रूप में भी वही हैं और सीताजी के रूप में भी।

फिर आगे और भी बड़ी मधुर बात आती है। भगवान ने पहले तो मनु से पूछा – तुम क्या चाहते हो? मनु ने कहा – मैं आपके समान पुत्र चाहता हूँ। भगवान ने कहा – मैं अपने समान कहाँ खोजूँगा, स्वयं ही तुम्हारा पुत्र बन जाता हूँ। तब वहाँ एक बड़ी सुन्दर बात आई। भगवान ने सतरूपा की ओर देखा – देवि, आप भी तो माँगिए। दोनों साथ आए। दोनों ने एक साथ साधना की, तो भगवान क्यों कहते है कि तुम अलग से माँगो? वह एक शब्द जो भगवान ने चुना, वह साधना में बड़े महत्त्व का सूत्र है। भगवान ने कहा –

देबि मागु बरु जो रुचि तोरें ।। १/१५०/३

पति-पत्नी हैं, तो इसका अर्थ यह नहीं है कि दोनों की रुचि एक ही हो। तत्त्व में भिन्नता भले ही न हो, पर रुचि में भिन्नता तो होगी ही। आभूषण को गला दीजिए, तो सोना ही रह जायगा, लेकिन सोने के नाम पर तो पहना नहीं जायेगा। भगवान ने कहा – "हे देवि, आप क्या चाहती हैं? इन्होने जो वरदान माँगा वह मैंने दिया, पर आपकी रुचि?" तब सतरूपा ने बड़ी चतुराई भरे शब्दों में कहा – हे कृपालु, चतुर राजा ने जो वर माँगा, वह मुझे बहुत ही अच्छा लगा –

जो बरु नाथ चतुर नृप मागा ।
सोइ कृपाल मोहि अति प्रिय लागा ।। १/१५०/४

– लेकिन हे नाथ, इतना होते हुए भी मेरी प्रार्थना है कि – आपके अपने भक्त जो सुख और परम गति प्राप्त करते हैं, मुझे वही सुख, वही गति, वही भक्ति, अपने चरणों में वही प्रेम और वही विवेक प्रदान कीजिए –

जे निज भगत नाथ तव अहहीं ।
जो सुख पावहिं जो गति लहहीं ।। १/१५०/८
सोइ सुख सोइ गति सोइ भगति
सोइ निज चरन सनेहु ।
सोइ बिबेक सोइ रहनि प्रभु
हमहि कृपा करि देहु ।। १/१५०

मानो रुचि की भिन्नता आ गई। महाराज मनु के मन में भगवान को केवल पुत्र के रूप में पाने की इच्छा है, पर सतरूपा जी विवेक चाहती हैं। **केवल भक्ति ही नहीं, विवेक भी चाहिए, ईश्वर का ज्ञान बना रहे**। जब रुचि की बात आती है, तो रुचि में भिन्नता होती है। समाज में भी क्या पति-पत्नी की रुचि एक जैसी होती है? यह आवश्यक नहीं। 'मानस' में यह बात बार बार दुहराई गई है कि भगवान क्या करते हैं – वह जो तत्त्वत: ब्रह्म है, वह जब सबसे मिलता है, तो उसकी रुचि देखकर, जो जैसा चाहता है, उसे वैसा ही दर्शन देता है, उसकी भावना को वैसी ही तृप्ति मिलती है –

जो जेहि भायँ रहा अभिलाषी ।
तेहि तेहि कै तसि तसि रुख राखी ।।२/२४३/२

❖ (क्रमशः) ❖

भय की वृत्ति

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिए विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय समय पर प्रसारित किये जाते रहे हैं तथा काफी लोकप्रिय हुए हैं। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, रायपुर से साभार गृहीत हुआ है। - सं.)

भय मन की एक विचित्र वृत्ति है, जो व्यक्ति को कमजोर बना देती है। हममें जाने कितने प्रकार का भय समाया रहता है। यदि हम विश्लेषण करके देखें, तो अधिकाश प्रसगों में हमारा भय निराधार साबित होता है। कई लोग भूत से डरते हैं। मैंने अब तक भूत के भय की लगभग ५० घटनाएँ देखी होंगी, पर मैं दावे से कह सकता हूँ कि सभी की सभी निराधार थीं, वे महज काल्पनिक घटनाएँ थीं। वास्तव में व्यक्ति को कल्पना का भूत ही सताता है। जब हम अकेले किसी अँधेरे स्थान से गुजरते हैं, तो हमारा हृदय एक अज्ञात भय से धड़धड़ाने लगता है और हमें पत्थर या वृक्ष भी चलते-फिरते भूत के रूप में दिखायी देने लगता है। इसका कारण है हम पर बचपन में डाले गये भय के संस्कार।

माताएँ छोटे बच्चों को किसी काम से रोकने के लिए हौआ का डर दिखाती हैं। यह हौआ का डर हमारे भीतर इतना रूढ़ हो जाता है कि कालान्तर में हमारे महान् भय का कारण बनता है। हम यदि जंगल में से गुजर रहे हों, तो सतत वन्य पशुओं का भय हमें आक्रान्त करता रहता है। सामान्य दृष्टि से यह भय अति स्वाभाविक प्रतीत होता है, और कहा जा सकता है कि भला किसे जंगल में जगली जानवरों का डर न होगा? पर प्रश्न यह है कि क्या वह डर हमें कमजोर नहीं बना देता? भय का सबसे बड़ा दोष यह है कि वह मनुष्य को शक्तिहीन कर देता है। जो व्यक्ति सिंह-विक्रम प्रकट कर सकता था वही भयाक्रान्त होकर गीदड़ जैसा हो जाता है।

एक बार मैं लोनावला में नहर के पार पर से चला जा रहा था। वह पार लगभग १८ इंच चौड़ा है - सीमेंट काक्रीट का बना हुआ। जहाँ तक वह पार जमीन से ३-४ फुट ऊँचा था, वहाँ तक तो मैं मजे से चला गया, पर कुछ दूर पर एक नाला आया, तो पार वहाँ पर जमीन से २५-३० फुट की ऊँचाई पर था। मैंने देखा कि अचानक मेरे पैर काँपने लगे। मैं चलने में असमर्थ हो गया - लगता कि अब गिरूँगा तब गिरूँगा। लगभग ५० फुट की लम्बाई मैंने बड़ी कठिनाई से, बैठे बैठे पार की। अब यह क्या था? उतने ही चौड़े पार पर मैं पहले मजे से चल रहा था, और कुछ समय बाद मैं चल नहीं पाया। यह भय था - गिरने का भय। भय ने मेरा विश्वास छीन लिया और मेरी शक्ति दब गयी।

एक बार मैं बण्डीपुर के वन में पर्यटन विभाग की जीप में सैर कर रहा था। इतने में लगभग २०० मीटर की दूरी पर एक इक्कड़ हाथी दिख पड़ा। हम लोगों को देखते ही उसने सूँड़ उठाकर हम लोगों की तरफ दौड़ना शुरू किया। चालक इतना घबरा गया कि उसका सन्तुलन बिगड़ गया और जीप एक चट्टान से टकराते टकराते बची। यह भय है, जो हमारा सन्तुलन हर लेता है। हाथी तो बाद में मारता पर चालक का भय हमारे लिए तो पहले ही काल बनने जा रहा था। क्या ऐसे भय को जीता जा सकता है? हाँ। मैं तब स्वर्गाश्रम, ऋषिकेश के लगभग १५ मील ऊपर वसिष्ठ गुफा में रहता था। बड़ा ही घना जगल था तब। दिन में वन्य पशु दिखायी पड़ जाते थे। मुझे बहुत डर लगता था। उसके कारण मेरी साधना में भी व्यतिक्रम होता था। तब वहाँ के एक तपोनिष्ठ संन्यासी ने मुझे समझाते हुए कहा - "अच्छा, बताओ, तुम क्यों डरते हो?" मैं कोई उत्तर न दे पाया। उन्होंने स्वय उत्तर देते हुए कहा - "आखिर मृत्यु का ही तो तुम्हें डर है न? यही तो सोचते हो न कि जगली जानवर तुम्हें मार डालेंगे?" मेरे अन्दर कुछ बिजली-सी कौंध गयी। मैंने उनसे कहा, "जी हाँ, डर का कारण यही मालूम होता है।" वे बोले - "ऐसा क्यों नहीं सोचते कि यदि मौत जगली जानवर के हाथों लिखी हो, तो कोई रोक नहीं सकता और न लिखी हो, तो बाल भी बाँका नहीं हो सकता? ऐसा बारम्बार विचार उठाकर यदि तुम इस तर्क को अपने भीतर पैठा लोगे, तो दिन में जो कई बार डर के मारे तुम मरते रहते हो, उससे तुम्हारी रक्षा हो जायगी।"

बात थी तो बहुत सरल और सामान्य-सी दिखनेवाली, पर उस तर्क ने धीरे धीरे मेरे भय को जीत लिया। कोई कह सकता है कि यह पलायनवाद है और इसको स्वीकार करने से मनुष्य असावधानी को प्रश्रय देगा, पर मेरी समझ में वस्तुस्थिति उल्टी है। यह वर्तमान में सही ढग से जीने की शिक्षा है। ❑❑❑

आत्माराम की आत्मकथा (४)

स्वामी जपानन्द

(रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी जपानन्द जी ने भक्तों के आन्तरिक अनुरोध पर बँगला भाषा में 'आत्माराम की आत्मकथा' नाम से श्रीरामकृष्ण के कुछ शिष्यों के तथा अपने जीवन के भी कुछ प्रेरक तथा रोचक संस्मरण लिपिबद्ध किये थे, जिनका डॉ. डी. भट्टाचार्य ने हिन्दी में अनुवाद किया था। इसकी पाण्डुलिपि हमें श्रीरामकृष्ण कुटीर, बीकानेर के सौजन्य से प्राप्त हुई है। इनमें अनेक बहुमूल्य जानकारियों तथा घटनाओं का समावेश होने के कारण 'विवेक-ज्योति' के पाठकों के लाभार्थ हम इनका धारावाहिक प्रकाशन कर रहे हैं। – सं.)

मैं जब द्वितीय बार सन् १९१६ ई. में गृहत्याग करके जा रहा था, तब माँ की तबीयत बहुत खराब थी, सभी चिन्तित थे, मेरे मन में भी बड़ा डर था – अभागे को फिर एक माँ के जीवन का अन्त देखना पड़ेगा, मेरे जैसे अभागे के लिए गृहत्याग करना ही उचित है – संन्यास मार्ग ही अच्छा है – ऐसे विचार प्रबल रूप से मन में उदय हुए थे। इसी बीच एक दिन वृद्ध पिता के साथ तर्कादि हो गया। वे संध्या के समय बैठकखाने में बैठकर जप कर रहे और साथ ही छोटे भाई के शिक्षक के साथ विविध विषयों पर चर्चा भी कर रहे थे। घूम-फिरकर लौट आने पर मैंने यह देखकर कहा – "पिताजी, संध्या के समय भगवान का नाम लेते लेते यह सब चर्चा क्यों?" वे भौचक्के होकर थोड़ी देर मेरी ओर देखते रहे, फिर कहा – "तुम अपना काम देखो।" बस और कुछ नहीं कहा और कुछ कहने की जरूरत भी नहीं थी। इसके पहले मैंने कभी उनसे ऐसी बात नहीं कही थी और न कहने का साहस ही हुआ था। उन्होंने भी कभी मुझे किसी विषय पर क्रुद्ध होकर या जोर की आवाज में कुछ करने को भी नहीं कहा था। यह क्या हुआ आज! "तुम अपना काम देखो।" सच है, यही बात महत्त्वपूर्ण है कि मैं क्या कर रहा हूँ! दूसरे क्या कर रहे है – यह सोचकर मुझे परेशान होने की क्या जरूरत! आयु बढ़ रही है – अपना काम देखने का मैं क्या उपाय कर रहा हूँ! यह तो भूल ही गया था कि जीवन का उद्देश्य 'संन्यास' है। माँ का यह स्नेह-बन्धन छोड़कर जाना ही होगा – उनकी जो हालत है, उससे लगता है कि शायद वे ही मुझे छोड़कर चली जायेंगी। नहीं, उनसे अपने जाने की बात कह नहीं सकूँगा। जगदम्बा की इच्छा पूर्ण हो। जाता हूँ, माँ जाता हूँ। इस संसार में अब और नहीं रहूँगा। माँ के मन में दुख देने का जो पाप लगेगा – उसके लिए दूर जाकर पत्र लिखकर कभी माफी माँग लूँगा, या फिर प्रार्थना करके अन्तर-ही-अन्तर में क्षमा माँग लूँगा। वे मुझे अवश्य ही माफ कर देंगी।

आवेग के झोंके में वृद्ध पिता की वह वाणी – 'मैं जब तक जीवित हूँ, तब तक मेरे पास रहो, मेरी मृत्यु के पश्चात् तुम जो चाहे करना" – मेरे मन में मिट गयी। दूसरे दिन रविवार था। घर छोड़कर मैं अज्ञात पथ पर चल पड़ा।

यहाँ दो-एक बातें और लिखने की इच्छा हो रही है। शास्त्रों में कहा है – "बन्धन चाहे जैसा भी हो, दुखदाई तथा जन्म-मरण का कारण-स्वरूप है।" दुखदाई है, इसमें सन्देह नहीं, पर माँ के स्नेह-बन्धन के फल से जो दुख मिलता है, उसमें एक रस है, उसमें नदी के प्रवाह की तरह एक आनन्द की धारा है। इस दुनिया में आकर जिसने उसकी मिष्टता, उसके मधुर आकर्षण का उपभोग नहीं किया है, उसका जीवन ही वृथा है। उसका जीवन यथार्थ ही दुखदायी है। वह क्रूर विधाता के अनिर्देश्य विधि द्वारा जीवन के एक महान् पवित्र आनन्द के आस्वादन से वंचित होता है। विवाह नहीं किया है, इसलिए दाम्पत्य जीवन के प्रेमानन्द के बारे में मुझे कुछ भी नहीं मालूम। इसलिए कई बार लगता है कि विवाह सभ्य समाज द्वारा किये गये Biological or Natural Selection (जैविक या प्राकृतिक चयन) का एक सांस्कृतिक रूप है।

फिर कभी सोचता हूँ – भगवान ही स्त्री की प्रकृति का अवलम्बन करके – स्त्री-पुरुषादि दृश्य रूप धारण करके प्रेम-लीला का अभिनय करते हैं; इसमें मधुरता है, इसमें आनन्द है, इसमें सन्देह क्या है? वरना पूरा जगत् पागल होकर प्रेम-लीला में मस्त क्यों होता? निःसन्देह सृष्टि के रूप से इसका गूढ़ सम्बन्ध है।

इसीलिए भाई-बहन तथा मित्रों के प्यार में दुख होते हुए भी एक आनन्द है, एक आकर्षण है। माँ-बाप का स्नेह, भाई-बहन का प्यार और बन्धुओं की प्रीति – ये सभी बन्धन तो हैं, पर फूल-माला के बन्धन जैसे। मनुष्य सब कुछ त्याग सकता है, पर यह बन्धन नहीं तोड़ सकता। मैं तोड़ नहीं सका हूँ। और यदि कोई दावा करता है कि उसने ये सारे बन्धन जड़ से तोड़ दिये हैं, तो वह पशु के समान है; विद्वान् होकर भी पशु है – और यदि ऐसा न भी हो, तो इतना निश्चित रूप से कह सकता हूँ कि वह मनुष्य नहीं है।

* * *

पहले सोचा था कि केवल संन्यास जीवन की बातें ही लिखूँगा, पर बीच में अन्य बातें लिखें बिना नहीं रह सका। इन सब घटनाओं के साथ मेरा जीवन इस तरह से जुड़ा है कि इनका थोड़ा-बहुत उल्लेख तो अति आवश्यक है।

यहाँ एक अन्य व्यक्ति के बारे में न लिखने से संन्यास-जीवन की सब बातें अपूर्ण रह जायेंगी – वे हैं छोटे मास्टर।

मेरे प्रिय मित्र गौर के छोटे भाई-बहन के मास्टर हैं। जिस दिन से उन्होंने मास्टरी शुरू की थी, उसी दिन मेरा उनसे परिचय हुआ। बाद में जब वे दोनों भाई मेरे ही घर के नीचेवाला कमरा किराये पर लेकर रहने लगे, तो उनके साथ मेरे और माँ के साथ भी उसका सम्बन्ध प्रगाढ़ हुआ।

मास्टर ज्यादा समय वही रहते, खाते-पीते, काम करते और मैं अधिकांश समय माँ के पास रहता। इस प्रकार हम दोनों के बीच एक प्रीति का बन्धन जुड़ गया। कई बार हम दोनों समाज, धर्म, राजनीति आदि विविध विषयों पर चर्चा करते। कभी कभी हम दोनों घूमने भी जाते। एक दिन हम कॉलेज स्क्वेयर में घूमने गये थे। ईश्वर है या नहीं, उन्हें कोई देख सकता है क्या, धार्मिक जीवन का महत्त्व, महापुरुषों का जीवन आदि कई गम्भीर विषयों पर चर्चा करते करते संध्या हो गई। कहा – "चलो, थोड़ा घूमकर कृष्णदास पाल की मूर्ति के पास से चलें, पुरानी किताबें देखने की इच्छा हो रही है।" फुटपाथ पर बैठे पुरानी पुस्तकों के विक्रेता ग्राहकों को आकर्षित करने के लिए 'दो दो पैसे' – कहकर चिल्ला रहे थे। हम भी गये। पुरानी किताबों के ढेर से बाबा प्रेमानन्द भारती के फोटो सहित – उनके तात्कालिक भाषणों की एक छोटी-सी पुस्तक हाथ में आई। उसे खरीद कर मास्टर के कमरे में लौटकर उसे पढ़ना शुरू किया। उसमें कृष्ण-भक्ति, ध्यान आदि विषयों पर जापान व अमेरिका में दिये गये भाषण थे। बड़े सुन्दर थे! हम जिस विषय पर सोच रहे थे, उसी पर लिखा था। यह भगवान का दान था। (यहाँ बता देना उचित होगा कि मैने श्रीरामकृष्ण तथा स्वामी विवेकानन्द के बारे में सुन रखा था – दो-एक किताबे भी पढ़ी थी। कभी कभी मठ में भी जाता था। यह सन् १९१२-१९१३ की बात है, लेकिन मास्टर तब तक न तो मठ में गये थे और न ही रामकृष्ण संघ का कोई ग्रन्थ ही पढ़ा था।) उस छोटी पुस्तक में मूर्ति-ध्यान की बात पढ़ी और श्रीरामकृष्ण का एक रंगीन चित्र खरीदकर ले आया।

फिर हमने हर संध्या को धूप-धूना जलाकर ध्यान व कीर्तन करना शुरू कर दिया। सुबह भी जप-ध्यान कर लेते। बड़े मास्टर शुरू में हमारे साथ सहयोगी नहीं हुए थे, लेकिन वे प्रतिदिन माला जपते थे। बाद में वे तथा एक अन्य भक्त भी हमारे साथ जप-ध्यान व कीर्तन करने लगे। इस प्रकार हमारी संध्या-पूजा खूब जम गयी। गर्मी के दिनों में भी खिड़की-दरवाजे बन्द करके धूप-धूना जलाकर, अँधेरे कमरे मे पसीने से तर होकर हम ध्यान व कीर्तन करते। पड़ोस के कई लोग यह देखकर हँसी-मजाक करते। मुझसे इस विषय को लेकर किसी ने हँसी नहीं की, पर छोटे मास्टर के साथ करते।

बाद में हमने निश्चय किया कि रात को नहीं सोयेंगे, भोर के चार बजे तक जप-ध्यान करेंगे। रास्ते के किनारे नीचेवाले कमरे में मै रहता था। मास्टर का कमरा भी वही था, पर उसका दरवाजा रास्ते की ओर था। मुझे बड़ा दरवाजा खोलकर रास्ते से होकर वहाँ जाना पड़ता था। निश्चय हुआ कि रात के बारह बजे से जप-ध्यान शुरू करेंगे और यदि दोनों में से कोई सो गया, तो दूसरा उसे जगा देगा। मास्टर को मुझे बहुत कम ही जगाना पड़ा था और बीच-बीच में वे खिड़की से देख जाते कि मैं क्या कर रहा हूँ। लगभग एक साल तक रात्रि-जागरण के कारण मुझे भयंकर बदहजमी (dyspepsia) हुई और मास्टर को वायु-रोग से पेट में तीव्र पीड़ा होने लगी। तब मैंने सारी रात न जागकर सुबह तीन-चार बजे उठकर ध्यान आदि करना शुरू किया। फिर सुबह स्नान करने के बाद एक बार और रात को भोजन के पश्चात्। इस वजह से मेरे सिर-दर्द की बीमारी हुई, जिसे ऐलोपेथी के डॉक्टर ठीक न कर सके। दो-तीन माह बाद एक सज्जन की होमियोपैथी औषधि से मैं एक माह में ठीक हो गया।

ठाकुर का चित्र खरीदने के बाद एक दिन मास्टर को (कॉकुड़गाछी जाकर) श्रीरामकृष्ण देव की समाधि देखने की प्रबल इच्छा हुई। निश्चय हुआ कि पैदल जाकर देखेगे। ११ बजे भोजन करके सियालदह का पुल पार करके हम लोग 'नारकोल-डाँगा' पहुँचे, परन्तु कॉकुड़गाछी का रास्ता हम दोनो

सदस्यता के नियम

(१) पत्रिका के नये सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। यदि पिछले किसी अक से बनना हो, तो उसका उल्लेख करें।

(२) अपना नाम तथा पिनकोड सहित पूरा पता स्पष्ट रूप से अवश्य लिखें। नये सदस्य हों, तो लिखें - 'नया सदस्य'।

(३) अपनी पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही उसका नवीनीकरण करा लें।

(४) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें। उससे पहले प्राप्त शिकायतों पर ध्यान नहीं दिया जायेगा। अक उपलब्ध होने पर ही पुनः प्रेषित किया जायेगा।

(५) अक सुरक्षित पाने हेतु प्रति अक ५/- रुपयों का अतिरिक्त खर्च वहन करके इसे वी.पी. पोस्ट से मँगाया जा सकता है। यह राशि प्रति माह अक लेते समय पोस्टमैन को देनी होगी, अतः इसे हमारे कार्यालय को न भेजें।

(६) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें।

को नहीं मालूम था। फिर हम 'योगोद्यान' का रास्ता पूछते हुए इधर-उधर भटकते रहे।

लगभग साढ़े तीन बजे एक सज्जन से मुलाकात हुई – भाग्यवश वे भी उधर ही जा रहे थे। उनके साथ हम लोग योगोद्यान में पहुँचे और दर्शनादि करके बहुत आनन्द पाया। स्वर्गीय रामबाबू (महात्मा रामचन्द्र दत्त) के शिष्य योगविनोद महाराज के साथ भी उस दिन खूब बातचीत हुई। मास्टर के मित्र विधु बाबू के साथ रामबाबू की बड़ी कन्या के विवाह की बातचीत चल रही थी। विधु बाबू उस समय एम.ए. पढ़ रहे थे। बाद मे विवाह हुआ और वे एम.ए. पास करके सी.पी. (मध्यप्रदेश) के एक शहर में मजिस्ट्रेट हुए थे। योगविनोद महाराज ने मास्टर से अपने मित्र को यह कहने के लिए बहुत आग्रह किया कि लड़की भक्त-परिवार की है और यह स्वर्णिम अवसर उन्हें नहीं छोड़ना चाहिए, आदि आदि। मुझे यह कारण सुनकर बड़ी हँसी आई। यदि कोई भक्त है, तो क्या यह जरूरी है कि उसकी लड़की भी अच्छी होगी। भक्त खुद प्रकृति के नियम का उल्लंघन कर सकता है, पर यह सोचना व्यर्थ है कि केवल उसी के योगबल से उसके वंशज भी ऐसा कर सकेंगे। अस्तु, हम दर्शनादि करके शाम को लौट आए और मास्टर हमारे इस अभियान की बात सबको सुनाते रहे।

फिर एक शनिवार या रविवार के दिन बेलूड़ मठ दर्शन कराने का भार मुझ पर आ पड़ा। इस अभियान से हम दोनों ठाकुर के भक्त हो गये। बड़े मास्टर और उनके मित्र भी हुए। मैं गाइड बनकर सबको बेलूड़ मठ का परिदर्शन कराने चल पड़ा। बड़े मास्टर को पूज्य महाराज लोगों से वार्तालाप करने की इच्छा थी और मुझ पर उनका परिचय कराने का भार था।

उस दिन मैं केवल पूजनीय बाबूराम महाराज (स्वामी प्रेमानन्द) के साथ ही उनका परिचय कराने में सफल हुआ। प्रेम की प्रतिमूर्ति प्रेमानन्द जी सहज ही सबके मित्र हो जाते थे। मेरे न होने से भी उनके साथ परिचय होने में कठिनाई नहीं होती। मास्टर तथा बाकी लोग उनके साथ परिचित होकर और उनका अद्भुत प्रेम-व्यवहार तथा आदर-सत्कार देखकर मुग्ध और उनके गुलाम हो गये। वे लोग मुझसे कहने लगे – "इतने दिनों तक क्यों नहीं तुमने हमें महाराज की बात कही, इनके बारे में न बताकर इतने दिन तुमने हमें इनके पवित्र संग से वंचित रखा।"

पूज्य बाबूराम महाराज – "ठाकुर कहते थे कि सब कुछ समय से ही होता है। समय हुआ है, इसीलिए तुम लोग उनके चरणों में आये हो।"

प्रेमपूर्ण मधुर हास्य के साथ ऐसा कहकर उन्होंने उन सबके आक्रोश से मेरा उद्धार किया। बाद में हम कई बार एक साथ मठ में गये और वहीं रात्रिवास किया। कभी कभी हम काँकुड़गाछी भी जाते थे। मास्टर ने तब श्रीमाँ से दीक्षा ले ली। बाद में बड़े मास्टर ने भी ली थी। ठाकुर ने उनको स्वप्न में कहा था – तेरा अभी समय नहीं हुआ है, लेकिन श्रीमाँ के पास रो-धोकर उन्होंने दीक्षा प्राप्त कर ली थी। छोटे मास्टर के पास उस समय पढ़ाने के अलावा दूसरा काम नहीं था। बड़े मास्टर ग्राहम कम्पनी में काम करते थे।

उन दिनों अर्थात् १९१३-१९१४ ई. में ध्यान-जप के कारण छोटे मास्टर को बहुत वैराग्य हो गया था और इसका दूसरा कारण था कोई नौकरी न होना। मेरे साथ अनेकों बार घर छोड़ने की बात हुई थी। वे भी अविवाहित थे। बड़े मास्टर ने भी अपनी स्त्री की मृत्यु के पश्चात् दूसरी शादी नहीं की थी। उनके परिवार में सिवाय एक बहन के और कोई नहीं था। लेकिन जब छोटे मास्टर मुझे बिना बताये ही गायब हो गये, तो बड़े मास्टर ने मुझे ही दोषी ठहराया। और यह स्वाभाविक भी था, क्योंकि मेरा पहले से ही ऐसा रेकार्ड था।

पुरखों की थाती

परोपकाराय फलन्ति वृक्षाः
परोपकाराय वहन्ति नद्यः।
परोपकाराय दुहन्ति गावः
परोपकारार्थम् इदं शरीरं ।।

– वृक्ष परोपकार के लिए फलते हैं, नदियाँ परोपकार हेतु बहती हैं, गायें परोपकार के निमित्त ही दूध देती हैं और हमारा यह शरीर भी केवल परोपकार करने के लिए ही मिला है।

परोपकारः कर्तव्यः प्राणैरपि धनैरपि ।
परोपकारजं पुण्यं न स्यात् क्रतुशतैरपि ।।

– अपने प्राणों तथा धन की भी परवाह न करते हुए परोपकार करना ही कर्तव्य है, (क्योंकि) सैकड़ों यज्ञों द्वारा भी उतना पुण्य नहीं होता, जितना कि परोपकार से होता है।

परोपकार-व्यापारो पुरुषो यः प्रजायते ।
सम्पदं स समाप्नोति परत्रापि परम्पदम् ।।

– जो व्यक्ति परोपकार के कार्य में लगा रहता है, उसे (जीवन में यश-रूपी) सम्पदा प्राप्त होती है और मरणोपरान्त परम पद की भी उपलब्धि होती है।

मैं जितना ही कहता कि मुझे कुछ पता नहीं, वे उतना ही कहते – तुम्हारे साथ योजना बनाकर गया है और तुम भी कुछ दिनों में जाओगे। ऐसी बातों के समय केवल मेरी माँ ही मेरा पक्ष लेती थीं। नानी कहती – "जब यह तुझे रुलाकर जायेगा, तब समझेगी।"

छोटे मास्टर का इतना साहस देखकर मैं तो अवाक् हो गया, क्योंकि भूख लगने पर वे उसे एक मिनट भी सहन नहीं कर पाते थे। किसी भी तरह का कष्ट सहन करना उनके स्वभाव में नहीं था। और मुझे भी नहीं बताया था कि वे कहाँ जा रहे हैं। उन्हें बेलूड़ मठ, काँकुड़गाछी आदि सभी जगह ढूँढ़ा गया, पर चार-पाँच दिनों बाद तक उनका कोई संवाद नहीं मिला। बड़े मास्टर रो-रोकर कातर हो गये थे। खाना-पीना छोड़ दिया। बहुत समझाने पर भी उनका दुख कम नहीं हुआ। तभी सिमुलतला (बिहार) से एक चिट्ठी आई – "डरने की कोई बात नहीं। मास्टर यहाँ हैं और थोड़े ही दिनों में घर लौटेंगे।" बड़े मास्टर ने फौरन तार या चिट्ठी भेजी और घर का लड़का घर लौट आया।

सुबह भोजन करने बैठे थे कि मास्टर लौटकर आये। मैंने कहा – "अरे भाई, कहाँ चले गये थे? तुम्हारे कारण मेरी कितनी बदनामी हो रही थी! सिवाय माँ के, इन सबकी धारणा है कि मैंने ही तुम्हें उपदेश देकर घर से भगाया है। भगवान की कृपा से अच्छे तो हो?" मास्टर हँस-हँसकर सबको अपने इस नये अभियान की बातें सुनाने लगे –

"खूब वैराग्य के भाव से एक कम्बल, एक लोटा और वैद्यनाथ तक का किराया लेकर निकल पड़ा था। सुबह वैद्यनाथ पहुँचा और फिर अठारह मील पैदल चलकर एक साधु के आश्रम में पहुँचा। ... रास्ते का थका हुआ, पूरी तौर से भूखा – उस समय मेरे शरीर में बोलने तक की भी शक्ति नहीं थी। परन्तु, उनसे भेंट होते ही आश्रय तथा भोजन दोनों मिल जायेंगे, यही आशा लेकर मैं उनसे मिलने के लिए आश्रम के भीतर गया। उनके एक शिष्य से भेंट हुई। उन्होंने छोटी-मोटी सारी बातें – वहाँ क्यों आना हुआ है, तक की सारी बातें पूछ लीं। मैंने सोचा कि अब शायद पूछेंगे – 'भोजन हुआ है या नहीं?' परन्तु हे भगवान, वह तो उन्होंने नहीं पूछा। पूछा – 'बिना लिखे क्यों आये? यहाँ तो तुम्हारे आदर्श के अनुसार स्थान नहीं है।' अन्त में – 'यहाँ पर जगह नहीं मिलेगी' – कहकर उन्होंने अपना वक्तव्य समाप्त किया। मैं दृढ़ स्वर में बोला – 'बाबाजी, आज तो आप मार डालें, तो भी मैं यहाँ से नहीं जाऊँगा। इतना परिश्रम करके आया हूँ, पूरे दिन खाया नहीं, प्राण निकले जा रहे हैं, इस समय कुछ खाने को दीजिए, कल सुबह चला जाऊँगा।' और मन के भीतर तो उनके प्रति क्रोध की ज्वाला धधक रही थी।"

मुझे तो यह सब सुनकर खूब हँसी आ रही थी। मैं बोला – "भाई, साधु होने गये थे और इतना-सा भी सहन नहीं कर सके! वे बोले – "गृहस्थ होने पर शायद सहन भी कर लेता, परन्तु साधु होकर ऐसा करना – इतना सहन करना कैसे भी सम्भव नहीं है।

मास्टर ने आगे कहा – "फिर रात को चिउड़ा, मुरमुरे तथा गुड़ खाने को दिया। दूसरे दिन संध्या को वहाँ चल पड़ा और एक संथाल की कुटिया में रात बिताकर तीसरे दिन सिमुलतला पहुँचा। वहाँ उन सज्जन के साथ ठहरा। सारे रास्ते बड़ी कठिनाइयाँ उठानी पड़ी, भूख-प्यास से बड़ी तकलीफ हुई। उन सज्जन ने पहले तो मुझे पहचाना ही नहीं, फिर मेरा परिचय जानकर और ऐसा काम किया है, सुनकर नाराज हुए। उसके बाद का तो सब तुम्हें मालूम है – अब लौट आया हूँ। इतना कठोर साधु नहीं बन सकूँगा। कुछ खाने को न मिले, तो भगवान का नाम ही भूल जाऊँगा।"

मैं – "खैर मुझे बताकर क्यों नहीं गये?"

मास्टर – "सोचा था त्रिकूट पहाड़ की एक गुफा में जाकर रहूँगा और आसन जमाने के बाद तुम्हें भी गिरि-गुफा में रहने और तपस्या करने के लिए आने को लिखूँगा। पर कुछ दिनों में ही छोड़कर लौटने के लिए बाध्य हुआ। जिस दिन लोटा-कम्बल लेकर निकला था, उस दिन मन में साधु-जीवन की जो कल्पना थी कि – धूनी जला कर बैठा हूँ, सिर पर जटा बँधी हुई है, शरीर पर भस्म लगा हुआ है और ब्रह्म के ध्यान में मग्न हूँ, संसार है या नहीं, इसका ध्यान नहीं। शरीर है या नहीं, इसका भी ख्याल नहीं, बीच-बीच में जब चेतना की अवस्था लौटती है, तो तुमसे वार्तालाप कर रहा हूँ, आदि आदि – वह कल्पना त्रिकूट पहुँचते ही खत्म हो गई।"

मास्टर आज इस जगत् में नहीं हैं। मेरे गृहत्याग करने के कुछ दिनों बाद Duodenal Ulcer (आंत्र-शोथ) का आपरेशन कराने के बाद मेडिकल कॉलेज में उनकी मृत्यु हो गई। वैसे संन्यासी बनने के छह वर्ष बाद उनके साथ कुछ दिनों के लिए उसी कमरे में रहने का सौभाग्य हुआ था।

❖(क्रमशः)❖

जीने की कला (३५)

स्वामी जगदात्मानन्द

(लेखक रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी हैं। उन्होंने युवकों के लिए जीवन-निर्माण में मार्गदर्शन करने हेतु कन्नड़ भाषा में एक पुस्तक लिखी, जो अतीव लोकप्रिय हुई। इसका अंग्रेजी अनुवाद भी दो भागों में निकला है। इसकी उपयोगिता को देखकर हम इसका धारावाहिक प्रकाशन कर रहे है। अनुवादक है श्री रामकुमार गौड़, जो सम्प्रति आकाशवाणी के वाराणसी केन्द्र में सेवारत हैं। – सं.)

नेत्रज्योति वापस मिल गई

पश्चिमी बंगाल के मिदनापुर जिले के बालीतक ग्राम में चितरंजन मोहन्ती रहते थे। वे बी. ए. (आनर्स) की उपाधि प्राप्त करके वासुदेवपुर में अध्यापक के रूप में कार्यरत थे। १९६८ ई. में उन्हें टायफायड हो गया, जिससे वे अन्धे हो गए। इसके बाद उन्हें वह नौकरी छोड़ देनी पड़ी। चिकित्सीय खर्च चुकाने के लिए उन्हें अपनी छोटी-सी सम्पत्ति भी बेच देनी पड़ी। अन्य कोई विकल्प न देख उन्हें अपना पैतृक गाँव छोड़कर भिक्षाटन से जीवन-निर्वाह करने हेतु सुदूर उड़ीसा के बालासोर जिले में जाना पड़ा। १९६९ ई. में श्रावण मास में ६ दिनों तक उन्होंने चन्दनेश्वर मन्दिर में प्रार्थना की। अन्तिम रात भगवान शिव उनके स्वप्न में प्रकट होकर बोले, "तुम अपने पूर्वजन्म में अपने माता-पिता के इकलौते पुत्र थे। एक दिन जब तुम्हारी माँ हर-गौरी-पूजन की तैयारी कर रही थी, तो लापरवाही-वश तुम्हारा पाँव पूजन-सामग्री पर पड़ गया। इस पर तुम्हारी माँ ने क्रोधपूर्वक तुम्हें शाप देते हुए कहा था, "इस तीव्र प्रकाश में भी तुम पूजन-सामग्री नहीं देख पाते। अन्धे हो जाओ।" तुम्हारे पूर्वजन्म के माता-पिता अब इस बालासोर जिले के बामपदा में हैं। अब वे गणनाथ बेहरा और लक्ष्मीदेवी के नाम से परिचित हैं। शिवरात्रि के शुभ दिन बामपदा के पास के जरीश्वर मन्दिर के सरोवर में स्नान करो और उसी के जल से गणनाथ बेहरा के घर में हर-गौरी पूजन करो। दोनों तुम्हें स्पर्श करें। तुम्हारी नेत्र-ज्योति लौट आयेगी।"

चितरंजन ने भगवान शिव के कथनानुसार कार्य करने हेतु अन्य लोगों की सहायता ली। इसलिए बहुत-से लोग इस घटना के बारे में जान गए। शिवरात्रि के दिन उन्होंने मन्दिर के सरोवर में स्नान करके पूरी भक्ति के साथ हर-गौरी का पूजन किया। उनका पूजन देखने के लिए हजारों लोग जुट गए। सबके समक्ष ही बेहरा दम्पति ने चितरंजन को स्पर्श करके आशीर्वाद दिया। और इसके साथ ही उनकी नेत्रज्योति वापस आ गई। भगवान की कृपा को कौन जान सकता है!

लोगों ने भक्तिभाव से अभिभूत होकर वहाँ दो दिनों तक हर-गौरी उत्सव मनाया और हर-गौरी का मन्दिर बनवाने का भी संकल्प लिया। गणनाथ बेहरा और उनकी पत्नी लक्ष्मी देवी ने चन्दनेश्वर-मन्दिर में जाकर विशेष प्रार्थनाएँ कीं। गणनाथ बेहरा उड़ीसा सरकार के लोक-निर्माण विभाग में एक कर्मचारी थे। उनके माध्यम से नेत्रज्योति लौटने की इस चमत्कारिक घटना का विवरण उड़िया साप्ताहिक 'राष्ट्रदीप' के २१ अप्रैल १९७० के अंक में प्रकाशित हुआ। 'द ट्रुथ' नामक अँग्रेजी अखबार में भी यह घटना प्रकाशित हुई। यहाँ पर इसे कोटा वसुदेव कारन्थ द्वारा रचित कन्नड़ ग्रन्थ 'देवरान्नु नाम्बुआ' (ईश्वर में विश्वास करो) से उद्धृत किया गया है। इस पुस्तक में ऐसी अनेक घटनाएँ वर्णित हैं।

हमारे शास्त्र बताते हैं कि हमें अपने वचन और कर्म से किसी को कष्ट नहीं पहुँचाना चाहिए। माँ के अभिशाप से होनेवाली वह त्रासदी सबके लिए एक सबक है। चितरंजन भगवान में विश्वास रखने के कारण उन्हीं की कृपा से अपनी नेत्रज्योति वापस पा सके थे। उनकी भक्ति ने भगवत्कृपा और साथ-ही-साथ नेत्रज्योति भी प्राप्त कर ली।

एक बार एक व्याख्यान के दौरान श्रोताओं के समक्ष मैंने इस घटना का वर्णन किया। सभा समाप्त होने के बाद उच्च सरकारी पद पर सेवारत एक हरिजन श्रोता ने मुझसे मिलकर अपना एक ऐसा ही अनुभव मुझे बताया। उनकी भी नेत्रज्योति चली गई थी और चिकित्सकों ने उन्हें अन्धा जानकर उनकी चिकित्सा बन्द कर दी थी। परन्तु उस व्यक्ति ने इस निराशाजनक परस्थिति में भी निरन्तर दो वर्षों तक भगवान से प्रार्थना की और उनका अन्धपन चामत्कारिक रूप से जाता रहा। उनकी आन्तरिक प्रार्थना और धैर्य बड़े प्रेरणादायी थे।

चलते रहो, चलते रहो

एक बार अधेड़ आयु के एक सज्जन श्रीरामकृष्ण से मिलने आए। उनका ईश्वर पर से विश्वास प्राय: उठ चुका था। उन्होंने श्रीरामकृष्ण से कहा, "इस समय मेरी आयु ५५ वर्ष की है। पिछले १४ वर्षों से मैं भगवान की खोज में लगा रहा। मैंने श्रद्धापूर्वक अपने गुरु के निर्देशों का पालन किया। मैंने तीर्थयात्रा की, असंख्य साधु-सन्तों से मिला, परन्तु कुछ भी हाथ नहीं लगा। बल्कि उल्टे मेरी मानसिक शान्ति ही चली गई। मैंने यथासाध्य प्रयत्न किया, परन्तु अब मैं भगवान से प्रार्थना करने में भी समर्थ नहीं हूँ। क्या मेरे लिए अब भी कुछ आशा बची है?"

श्रीरामकृष्ण ने मुस्कराकर कहा, "क्या तुम पूरी निष्ठा और व्याकुलता से केवल इतनी ही प्रार्थना कर सकते हो –'हे प्रभो, यदि सचमुच ही आपका अस्तित्व हो, तो कृपया मुझे दर्शन

देकर मेरे दुख मिटा दीजिए?' विश्वास रखो और प्रार्थना करते रहो। तत्काल परिणाम के लिए लालायित मत रहो। तुम्हें सफलता अवश्य मिलेगी।''

उस व्यक्ति ने श्रीरामकृष्ण के कथन का सत्यापन करने का निश्चय किया। एक वर्ष बाद वह फिर आकर श्रीरामकृष्ण से मिला और उनके सम्मुख साष्टांग प्रणाम करते हुए बोला, ''महाराज, आपने मुझे सन्मार्ग दिखाकर बचा लिया।'' अब वह अवसादमुक्त होकर रहने लगा, क्योंकि भगवान में उसका विश्वास पुन: दृढ़ हो गया था।

केवल अटल विश्वास से ही साधना फलवती हो सकती है। छोटे पौधे को लगाने के बाद उसके पनपने और फलने-फूलने के लिए प्रतीक्षा करनी पड़ती है। चेतना के रूपान्तरण के लिए धैर्य ही कुंजी है। अतएव उठो, बढ़े चलो, लक्ष्य की प्राप्ति किए बिना रुको मत !

हर साँस में प्रार्थना करो

रसिकलाल दक्षिणेश्वर में एक मेहतर था। श्रीरामकृष्ण के पास सैकड़ों लोगों को आते हुए देखकर वह आहें भरते हुए कहता, ''ये लोग कितने भाग्यवान हैं, जो श्रीरामकृष्ण की दिव्य वाणी सुन पाते हैं! मैं एक अभागा प्राणी हूँ। अपनी जाति के कारण मैं उनके पास नहीं जा सकता।'' ऐसा सोचकर वह खेद किया करता था।

जैसे जैसे श्रीरामकृष्ण के प्रति उसकी श्रद्धा-भक्ति बढ़ती गई, वैसे वैसे उनकी वाणी को सुनने की उसकी इच्छा तीव्रतर होती गई। एक दिन जब श्रीरामकृष्ण पंचवटी से अपने कमरे की ओर आ रहे थे, तो रसिक अपनी व्यथा को सँभाल न सका। वह ठाकुर के पास जाकर उन्हें प्रणाम करके सिसक-सिसककर रोते हुए बोला, ''प्रभो, मेरा क्या होगा?'' श्रीरामकृष्ण ने रसिक को पहचान लिया और स्नेहपूर्वक बोले, ''अरे ! रसिक ! उठो बेटा।'' ऐसा कहकर वे समाधिमग्न हो गए।

रसिक ने अपनी प्रेम-भक्ति की अश्रुधारा से ठाकुर के चरण धो डाले। श्रीरामकृष्ण उसकी भक्ति से द्रवित होकर उसे आश्वस्त करते हुए बोले, ''तुम बिल्कुल चिन्ता मत करो। मैं तुम्हारी सारी जिम्मेदारी अपने ऊपर लेता हूँ। अपना कर्तव्य पूर्ववत् करते रहो। सुबह-शाम पूरी निष्ठा और भक्ति के साथ भगवान से प्रार्थना करो।''

इस आशीर्वाद से रसिक का जीवन ही बदल गया। उसने श्रीरामकृष्ण के निर्देशों का अक्षरश: पालन किया। वह हर साँस में भगवन्नाम का जप करने लगा। श्रीरामकृष्ण के देहत्याग के कुछ वर्षों बाद रसिकलाल के जीवन का भी अन्तकाल आ गया। वह तेज बुखार से पीड़ित था। एक दिन दोपहर में उसने अपनी पत्नी से स्वयं को घर के परिसर में स्थापित तुलसी के बिरवे के पास पहुँचाने को कहा। पत्नी ने दुख के साथ रसिक की इच्छा पूरी कर दी। वहाँ भजन में बैठकर वह एक दिव्य व्यक्ति प्रतीत होने लगा। रसिक विस्मयपूर्वक कहने लगा, ''अरे, आप अपनी प्रतिज्ञानुसार आ गए।'' रसिक ने हर्षातिरेक से विह्वल होकर अन्तिम साँस ली।

रसिक ने पूछा था, ''हे प्रभु, मेरे भाग्य में क्या है?'' ठाकुर का उत्तर निश्चय ही यही रहा होगा, ''तुम कृतकृत्य हो जाओगे।'' क्या यह सच नहीं है?

भगवान द्वारा बालिका की पुकार का उत्तर

स्वामी ब्रह्मानन्द के सेवकों में से एक स्वामी निर्वाणानन्द एक घटना का वर्णन करते हैं। स्वामी निर्वाणानन्द बाद में रामकृष्ण संघ के उपाध्यक्ष हुए थे।

''वर्ष १९१८ की बात है। प्रेमपूर्वक 'महाराज' के रूप में सम्बोधित किये जानेवाले स्वामी ब्रह्मानन्द, तब कलकत्ते के बागबाजार में स्थित बलराम बोस के घर में निवास कर रहे थे। उनका सेवक होने के नाते उस समय मैं भी उनके साथ था। उस दिन महाराज अपना दोपहर का भोजन करके अभी-अभी उठे थे। सामान्यत: इस समय वे विश्राम करते थे।

''मैं उनके कमरे के बाहर एक बेंच पर बैठा था। तभी एक युवती अपने भाई के साथ आ पहुँची। युवती महाराज के दर्शन की अनुमति माँगने लगी। मैंने बताया कि इस समय महाराज का दर्शन कर पाना सुविधाजनक नहीं होगा।

''वह रोने लगी। स्वामी सारदानन्द ने उसे आने को कहा था। उसने कहा, 'मैं केवल महाराज को प्रणाम करके चली जाऊँगी। कृपया मुझे उनका दर्शन करा दीजिए!'

''उसकी व्यथा से द्रवित होकर मैं महाराज के पास गया। मैंने कहा, 'शरत् महाराज ने इस युवती को यहाँ भेजा है। वह केवल प्रणाम करके ही चली जाना चाहती है।' स्वामी सारदानन्द जी का नाम सुनकर वे उससे मिलने के राजी हो गए।

''बाद में मुझे ज्ञात हुआ कि दण्डवत् प्रणाम करते हुए वह युवती भावुक होकर सिसकने लगी। महाराज सहसा भाव-समाधि में स्थित होकर मौन और निश्चल हो गए। थोड़ी देर बाद वे युवती को देखकर बोले, 'उठो बेटी, बताओ क्या हुआ।' वह युवती तब भी रो रही थी। वह खड़ी हो गई, पर कुछ देर तक कुछ भी नहीं बोल सकी। महाराज के कमरे में टँगे श्रीरामकृष्ण के चित्र की ओर इंगित करते हुए युवती बोली, 'उन्होंने मुझे आपके पास आने को कहा है।'

''वह अपनी आपबीती सुनाने लगी। १४ वर्ष की आयु में उसका विवाह हुआ था। विवाह के दो सप्ताह बाद ही उसके पति की मृत्यु हो गई। उसका भविष्य अति अन्धकारमय प्रतीत होने लगा था। घोर निराशा में वह फूट-फूटकर रोने लगी और निरन्तर भगवान से प्रार्थना करती रही, 'हे प्रभो, मेरे जीवन का क्या होगा? मैं एकाकी और असहाय हूँ। मैं अब

क्या करूँ? कृपा करके मुझे मार्ग दिखाइए।'

"लगभग एक वर्ष के बाद, एक रात श्रीरामकृष्ण उसके स्वप्न में प्रकट होकर बोले, 'रोओ मत। मेरा पुत्र राखाल बागबाजार में रहता है। उसके पास जाओ। वह तुम्हारी सहायता करेगा।' वह श्रीरामकृष्ण या राखाल के बारे में कुछ भी नहीं जानती थी। वह सोचने लगी – बागबाजार कैसे जाऊँ, क्योंकि बागबाजार उसके निवास से दूर था। उसने अपने स्वप्न के बारे में अपनी ससुराल में किसी से कुछ नहीं बताया। उसने अपनी माँ के पास जाकर सब कुछ बता दिया। उसकी माँ श्रीरामकृष्ण के बारे में जानती थी। माँ से उनके बारे में जानकर युवती अपने भाई के साथ बागबाजार आई। वहाँ उसने पूछा कि यहाँ पास में कोई साधु रहते हैं क्या? उसे पता चला कि रामकृष्ण संघ के कई संन्यासी उद्बोधन-आश्रम में रहते हैं। स्वामी सारदानन्द तब वहीं थे। उसने श्रीरामकृष्ण-विषयक अपना स्वप्न उन्हें बताया। तब स्वामी सारदानन्द ने उसे बलराम मन्दिर में महाराज के दर्शनार्थ भेज दिया था।

"वह युवती दो घण्टे से भी अधिक समय तक महाराज के साथ रही। अन्ततः महाराज ने मुझे बुलाया। मन्दिर में प्रविष्ट होते ही मुझे पता चल गया कि युवती की मंत्रदीक्षा हो चुकी है। महाराज ने मुझे उसके और उसके भाई के लिए भोजन लाने को कहा। इस दर्शन के बाद वह युवती प्रायः ही महाराज के दर्शनार्थ आने लगी। १९२२ में महाराज के देहत्याग के बाद मैंने एक या दो बार उसे मठ में देखा था।"

स्वामी ब्रह्मानन्द ने उसे मंत्रदीक्षा देकर कृतार्थ कर दिया था। उन्होंने उसे अध्यात्म-पथ पर आगे बढ़ने के लिए दिशा-निर्देश दिया। कातर प्रार्थना से उसने आध्यात्मिक राज्य में काफी उन्नति की और बाद में कई अन्य महिलाओं का भी मार्ग-दर्शन किया। उसकी व्याकुल प्रार्थना के उत्तर में भगवान ने उसे अपने धाम का पथ दिखा दिया था।

शराब नहीं, सहानुभूति

श्रीरामकृष्ण देव ने जिन स्वेच्छाचारी लोगों को बचाया था, कालीपद घोष भी उनमें से एक थे। वे एक शराबी और विषयी व्यक्ति थे। स्वामी अद्भुतानन्द जी ने अपनी स्मृतियों में बताया है कि श्रीरामकृष्ण ने कैसे कालीपद घोष के जीवन में आमूल परिवर्तन ला दिया था –

"एक रात गिरीश बाबू कालीपद के साथ दक्षिणेश्वर आए। कालीपद बड़ा नशेबाज था, घर में पैसा-कौड़ी कुछ भी नहीं देता था, सब कुछ शराब में उड़ा देता था। परन्तु उसकी पत्नी बड़ी सती-साध्वी थी। बहुत दिनों पूर्व एक बार वह ठाकुर के पास आयी थी। सुना है कि अपने पति का मन ठीक करने के लिए उसने ठाकुर से कोई दवा माँगी। परन्तु ठाकुर ने दवा न देकर उसे माँ (सारदा देवी) के पास भेज दिया। माँ ने उसे पुनः ठाकुर के पास वापस भेजा। इस प्रकार उन्हें तीन बार इधर से उधर जाना पड़ा था। अन्त में माँ ने पूजा के एक बेलपत्र पर ठाकुर का नाम लिखकर उसे कालीपद की पत्नी को दिया और उसे खूब भगवन्नाम-जप करने की सलाह दी।

"कालीपद की पत्नी ने १२ वर्षों तक भगवन्नाम का जप किया। पहली बार कालीपद से मिलने पर ठाकुर ने कहा था, 'यह आदमी अपनी पत्नी को १२ वर्षों तक कष्ट देकर यहाँ आया है।' इस पर कालीपद चौंक गए, परन्तु चुप रहे।

"तब ठाकुर ने उनसे पूछा, 'तुम क्या चाहते हो?'

"कालीपद ने निर्लज्जतापूर्वक कहा, 'क्या आप मुझे थोड़ी-सी शराब दे सकते हैं?'

"ठाकुर ने मुस्कराकर कहा, 'हाँ, दे सकता हूँ। परन्तु मेरी शराब में इतना नशा है कि तुम उसे सह नहीं सकोगे।'

"कालीपद ने इसे सत्य समझकर कहा, 'बिलायती सुरा है क्या? तो वही दे दीजिए थोड़ा-सा। गला तर कर लूँ।'

"ठाकुर ने हँसते हुए कहा, 'अजी, यह बिलायती सुरा नहीं, शुद्ध देशी मदिरा है। यह शराब जिस-तिस को नहीं दी जाती, क्योंकि हर कोई इसे पचा नहीं सकता। यदि कोई यह शराब एक बार भी चख ले, तो फिर उसे बिलायती शराब फीकी लगने लगेगी। क्या तुम बिलायती शराब छोड़कर मेरी यह देशी शराब पीने को राजी हो?'

"कालीपद ने कुछ क्षणों तक सोचा। फिर मैंने उन्हें कहते सुना, 'वही सुरा मुझे दीजिए, जिसे पीने पर मैं सारा जीवन नशे में डूबा रह सकूँ।' इसके बाद ही ठाकुर ने उसे छू दिया। कालीपद रोने लगा। हम लोग बहुत प्रयास करके भी उसे शान्त नहीं कर सके।"

वस्तुतः उन्होंने ईश्वर प्रेम का नशा पा लिया था। उनके जीवन ने एक नया मोड़ ले लिया। उनकी उच्च आध्यात्मिक अवस्था हो गई। स्वामी गम्भीरानन्द जी ने अपने सुन्दर ग्रन्थ 'श्रीरामकृष्ण-भक्तमालिका' में श्रीरामकृष्ण के इन महान् भक्त के चरित्र का बड़ा सुन्दर वर्णन किया है।

ऐसे प्रखर भक्ति-विश्वास और व्याकुलता से सम्पन्न प्रार्थना अवश्यमेव फलीभूत होती है। अपनी सदाचारी पत्नी की कातर प्रार्थना से कालीपद ने नया जीवन प्राप्त कर लिया।

आन्तरिक व्याकुलता

कर्नाटक के एक महान् सन्त जगन्नाथ दास का मूल नाम श्रीनिवास था। इस महाविद्वान् के एक विनम्र भगवद्भक्त में रूपान्तरण की कहानी बड़ी रोचक है। उनका जन्म उत्तरी कर्नाटक के एक गाँव में १६४९ ई. में हुआ था। जीवन के प्रारम्भिक काल में ही उन्होंने संस्कृत भाषा में प्रवीणता प्राप्त कर शास्त्रों में अद्वितीय विद्वत्ता प्राप्त कर ली थी। वे काफी

विख्यात हो चुके थे। उनके पास अध्ययन को अनेक छात्र आया करते थे। विद्वत्ता ने उन्हें अहंकारी बना दिया। वे भगवान के भक्तों को मूर्ख कहकर उनकी खिल्ली उड़ाने में भी संकोच नहीं करते थे। उन्होंने विजयदास नामक एक धर्मात्मा की भी निन्दा की और उपहास किया। सन्त बसवेश्वर ने कहा है – "किसी महात्मा का अपमान करना, अपने जीवन में विपत्ति को आमंत्रण देने के समान है। यह वैसा ही है मानो किसी नाग के सिर से अपना गाल खुजलाना और कमर के चारों ओर बोझ बाँधकर कुएँ में कूदना।"

श्रीनिवास को शीघ्र ही साधु के अपमान का फल मिला। उन्हें तपेदिक रोग हो गया। वे भोजन नहीं ग्रहण कर सकते थे और दुर्बल हो गए। वे असहाय और पीड़ित थे। अन्त में उन्होंने अपने पड़ोस के हनुमान-मन्दिर में ४८ दिनों तक विशेष पूजा-प्रार्थना करने की प्रतिज्ञा की। हनुमान जी ने उन्हें स्वप्न में दर्शन देकर बताया कि उन्हें यह रोग क्यों हुआ। विजयदास का अपमान करने के फलस्वरूप ही श्रीनिवास को वह भयानक व्याधि हुई थी। तथापि उपचार ढूँढ़ने में अभी विलम्ब नहीं हुआ था। उन्हें उस सन्त के सम्मुख आत्म-समर्पण-पूर्वक क्षमा-याचना करके उनका आशीर्वाद प्राप्त करना चाहिए। तब उनका रोग ठीक हो जाएगा।

श्रीनिवास को सबक मिल गया था और वे अनुताप कर रहे थे। विद्वत्ताजन्य उनका गर्व चूर चूर हो गया और वे विनम्र बन गए। दुर्बल होने के कारण वे एक पालकी में बैठकर विजयदास के पास गए और क्षमा माँगते हुए बोले, "आपकी महानता से पूर्णत: अनभिज्ञ रहने के कारण अपने ज्ञान के अहंकार से उन्मत्त होकर मैंने आपका अपमान किया। मैं पापी हूँ। मुझे क्षमा करके ऊपर उठा लीजिए।" विजयदास से क्षमायाचना करके वे रोने लगे। दयालु हृदय विजयदास ने उन्हें क्षमा करके आध्यात्मिक मार्गदर्शन के लिए अपने शिष्य गोपालदास के पास भेज दिया। गोपालदास ने श्रीनिवास से सब बातें जानकर उन्हें मंत्रदीक्षा देने के बाद खाने को प्रसाद दिया।

तपेदिक का जो रोगी कल तक चावल का एक ग्रास भी नहीं निगल सकता था, उसी ने आज मक्के की दो रोटियाँ खाकर उन्हें पचा लिया। कुछ ही दिनों में श्रीनिवास पूर्णतया स्वस्थ हो गए। उनके संन्यास लेने की इच्छा व्यक्त करने पर गोपालदास बोले, "तुम पण्ढरपुर जाकर पाण्डुरंग विट्ठल का नाम जपते हुए चन्द्रभागा नदी में स्नान करो। प्रभु की कृपा से तुम्हारे नाम का एक प्रस्तर-फलक तैरते हुए तुम्हारे पास आएगा, उसे ले लेना, वही तुम्हारा संन्यास-नाम होगा और फिर भगवन्नाम जप करना।" गोपालदास द्वारा कथित चमत्कार अक्षरश: सत्य हुआ। अब श्रीनिवास जगन्नाथदास हो गए। उन्होंने भगवान की महिमा का गुणगान किया, तीर्थ-स्थानों का भ्रमण किया और एक महान् भगवद्भक्त हो गए।

गृहस्थ भी भगवान को पा सकते हैं

जब सन्त ब्रह्मचैतन्य महाराज गोंडावली में ठहरे हुए थे, उस समय एक गृहस्थ भक्त ने उनसे पूछा, "हम गृहस्थ हैं। हमें अपने परिवारों का ध्यान रखना पड़ता है। हम निरन्तर भगवान राम का नाम-जप या ध्यान नहीं कर सकते। हम मन को थोड़े समय के लिए भी ध्यान में केन्द्रित नहीं कर सकते। हम कैसे भगवान का दर्शन कर सकेंगे? बताइए – हम जैसे लोगों के लिए मुक्ति का क्या उपाय है?"

महाराज ने उत्तर दिया, "अपनी पत्नी और बच्चों को देखकर सोचो कि भगवान श्रीराम ने देखभाल करने के लिए तुम्हें यह परिवार दिया है। उनके प्रति सारे कर्तव्य पूरे करके भगवान को बताते रहो। वे पूछते हैं कि तुमने इस विषय में क्या किया है? बारम्बार याद करो कि तुम्हें अपने कर्मों का हिसाब देना है। अपने परिवार और घर-बार से सम्बन्धित कोई भी चीज देखने पर यह स्मरण करो कि ये सारी चीजें भगवान की हैं और भगवान से तुम्हें उनकी जिम्मेदारी मिली है और तुम्हें अपने किए हुए कर्तव्यों का लेखा-जोखा भगवान को देना है। जब तुम बारम्बार मन में यह भाव लाने का प्रयास करोगे, तो धीरे-धीरे यह आदत हो जाएगी। यह तुम्हारी चेतना का एक अंश बन जाएगी। क्रमश: तुम 'यह सब मेरा है' का भाव छोड़ दोगे और 'यह सब भगवान श्रीराम का है' का भाव आत्मसात कर लोगे। यदि तुम ६ माह तक यह आध्यात्मिक साधना करते रहो, तो निस्सन्देह तुम भगवान श्रीराम की कृपा प्राप्त कर लोगे।"

प्रार्थना में कातर भाव तथा व्याकुलता बढ़ने पर सांसारिक वस्तुओं के प्रति आसक्ति घटती जाती है और भगवान के पास तुम द्रुतगति से बढ़ते जाते हो। भगवान भक्त की संन्यास या गृहस्थ अवस्था को नहीं, अपितु उसके मन और हृदय को देखते हैं।

❖ (क्रमशः) ❖

हिन्दू धर्म की रूपरेखा (१)

स्वामी निर्वेदानन्द

(प्राचीन काल में वैदिक या सनातन धर्म और वर्तमान में हिन्दू धर्म के रूप में प्रचलित धर्म का वास्तविक स्वरूप क्या है और विश्व के अन्य धर्मों से इसमें क्या समानता व भेद है, इसे समझना हिन्दुओं के लिए भी अति आवश्यक है। विद्वान् लेखक ने अपनी बंगला तथा अंग्रेजी ग्रन्थ में इस धर्म के मूल तत्त्वों का बड़ा ही सहज निरूपण किया है। उसका हिन्दी अनुवाद क्रमश: प्रकाशित किया जा रहा है। – सं.)

१. भूमिका

हिन्दू धर्म संसार के प्रमुख धर्मों में एक है। इसके करीब तीस करोड़ अनुयायी[१] भारत में निवास करते हैं और 'हिन्दू' नाम से सुपरिचित हैं।

अति प्राचीन काल से ही भारत हिन्दू धर्म की मातृभूमि रहा है। कितने समय से – यह कोई निश्चित रूप से नहीं कह सकता। कुछ विद्वानों का मत है कि यह काल बीस हजार वर्षों का होगा, जबकि कुछ लोग इसे तीन हजार वर्षों से अधिक का नहीं मानते। अस्तु, यह तो असन्दिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि हिन्दू धर्म हजारों वर्ष प्राचीन और साथ ही संसार के प्रमुख धर्मों में सर्वाधिक प्राचीन है।

प्राचीन काल में यह धर्म 'आर्य-धर्म' के नाम से प्रचलित था और उसके अनुयायी 'आर्य' कहलाते थे। भारतवर्ष में इनका आदि निवास-स्थान वर्तमान पंजाब था। अब तक कोई निश्चित रूप से यह बताने में सक्षम नहीं हो सका है कि पंजाब में वे कहाँ से आए थे। उनका आदि देश निर्धारित करने हेतु विद्वानों ने विविध अनुमान लगाये हैं, तदनुसार उत्तरी ध्रुव, मध्य एशिया का विस्तृत पठार, भूमध्य-सागर का तट आदि प्रदेशों को उनकी आदि-भूमि बताने का प्रयास किया गया है। स्वामी विवेकानन्द जी का निश्चित मत था कि आर्य लोग भारत के बाहर के किसी स्थान से नहीं आए।[२]

अस्तु, आर्य लोग पंजाब से चलकर क्रमश: पूरे उत्तरी भारत में फैल गए और इस कारण उस भूभाग को 'आर्यावर्त' कहा जाने लगा। कालान्तर में उन्होंने विंध्याचल की पहाड़ियों को भी लाँघकर दक्षिण भारत में अपने धर्म व संस्कृति का विस्तार किया। इस अभियान का श्रीगणेश महर्षि अगस्त्य नामक आर्य-ऋषि ने किया था।

हमारे मन में जिज्ञासा हो सकती है कि आर्यों को 'हिन्दू' कैसे कहा जाने लगा। 'हिन्दू' नाम की उत्पत्ति का इतिहास बड़ा मनोरंजक है। पंजाब में स्थित आर्यों की निवास-भूमि की पश्चिमी सीमा का निर्धारण सिन्धु नदी से होता था। इस नदी के उस पार ईरानी (पारसी) लोगों का देश था। वे लोग सिन्धु नदी के नाम पर ही उसके पूर्व दिशा में रहनेवाले भारतवासियों को भी सिन्धु कहते थे; पर ईरानियों द्वारा सिन्धु शब्द का शुद्ध उच्चारण न हो सकने के कारण 'सिन्धु' के लिए 'हिन्दू' शब्द का प्रयोग होने लगा, जिसे आगे चल कर आर्यों ने भी स्वयं के लिए अपना लिया।

'हिन्दू' शब्द अति प्राचीन है। जब हिन्दू लोग पूरे भारत में फैल गये, तो यह पूरा देश 'हिन्दुस्तान' कहलाने लगा।

हिन्दुस्तान अनेक साधु-सन्तों, ऋषि-मुनियों तथा अवतारों की जन्मभूमि रहा है। हजारों वर्षों से यह मुख्यत: धर्मभूमि के रूप में ही विद्यमान है। धर्म का पावन स्पर्श पाकर इसके नदी, नद, पर्वत, झीलें, समुद्र तथा नगर तीर्थों में परिणत हो गए हैं। चारों ओर बिखरे इन पावन तीर्थों ने इस हिन्दु-भूमि को यथार्थत: पुण्यभूमि बना दिया है। युग-युगान्तर से अगणित यात्री दूर-दूर से इन पावन तीर्थों के दर्शनार्थ उमड़ते चले आते हैं। और इस प्रकार चिर काल से ही धर्म यहाँ के निवासियों के जीवन की मूल प्रेरणा-शक्ति बना रहा है।

हिन्दुओं के धर्म ने उनकी गौरवशाली संस्कृति को जन्म दिया है। अति प्राचीन काल से ही हिन्दुओं ने उच्च कोटि के चित्रों, मूर्तियों, भवनों, संगीत तथा काव्य का निर्माण किया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने व्याकरण, निरुक्त, तर्क, दर्शन, राजनीति, ज्योतिष, औषधि तथा शल्य चिकित्सा आदि विभिन्न विषयों पर अनेक विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ लिखे। उन्होंने रसायन-शास्त्र में महत्त्वपूर्ण शोध किये और अभियांत्रिकी, सिंचाई, जलपोत-निर्माण तथा अन्य अनेक कला तथा शिल्प के क्षेत्रों में वे अपनी अद्भुत निपुणता के प्रमाण छोड़ गये। और इन सबके मूल में धर्म था; इन सबके पीछे निहित विचार तथा आदर्श मुख्यत: हिन्दू ऋषियों द्वारा अनुप्रेरित थे।

कालान्तर में हिन्दुओं के इस महान् धर्म से जैन और बौद्ध नाम की दो सशक्त शाखाएँ निकलीं। हिन्दू धर्म अपनी बौद्ध शाखा के साथ भारतीय सीमा के बाहर भी प्रचारित होने लगा। श्रीलंका, ब्रह्मदेश, स्याम, कम्बोडिया, मलाया, जावा, बाली, सुमात्रा, चीन, कोरिया, जापान, अफगानिस्तान तथा तुर्किस्तान इनमें से किसी एक या दोनों धर्मों के प्रभाव-क्षेत्र में आये। विद्वानों ने यहाँ तक कि सुदूरवर्ती उत्तरी अमेरिका के मैक्सिको अंचल में भी हिन्दू सभ्यता के अवशेष ढूँढ़ निकाले हैं। इन विदेशियों ने उत्कृष्ट हिन्दू संस्कृति को साग्रह स्वीकार किया था। हिन्दुओं ने कभी छल या बल से अन्य देशों पर अपना

१. स्वाधीनता-पूर्व की जनगणना के अनुसार (अब लगभग ८५ करोड़)

२. देखिए – विवेकानन्द साहित्य, संस्करण १९६३, खण्ड ५, पृ.१८६; खण्ड ९, पृ. २८१: खण्ड १० पृ, ११०

धर्म नहीं थोपा। शान्ति, प्रेम, सहानुभूति तथा सेवा ही उनके मूलमंत्र थे। वे जहाँ कहीं भी गए, उन्होंने वहाँ के आदिम निवासियों की सभ्यता को उन्नत किया।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि हिन्दुस्तान ही सम्पूर्ण प्राच्य सभ्यता की मातृभूमि रहा है। इस बात के भी अनेक प्रमाण मिले है कि हिन्दुओं की विचारधारा पाश्चात्य सभ्यता की जन्मभूमि प्राचीन यूनान तक तक जा पहुँची थी।[३]

हजारों वर्षों की इस महायात्रा के दौरान हिन्दू धर्म आकार-प्रकार में विस्तृत होता रहा है। अब इसके अन्तर्गत वैष्णव, शाक्त, शैव, सौर, गाणपत्य आदि असंख्य सम्प्रदायों के लिए भी स्थान है। फिर इनमें से हर सम्प्रदाय में भी अनेक पृथक् मतों के लिए स्थान है। इसके अलावा जैन, बौद्ध, सिक्ख, आर्यसमाज आदि भी हिन्दू धर्म से ही निकले हैं।

विगत कुछ काल से हिन्दुओं का प्राचीन धर्म सुदूर पाश्चात्य देशों में अपना सन्देश फैला रहा है। यूरोप और अमेरिका के बहुत-से लोग हिन्दू जीवन-दर्शन का सम्मान करना सीख रहे हैं। उनमें से कुछ लोगों ने तो हिन्दुओं के आदर्शों तथा विचारों तक को अपनाना शुरू कर दिया है।

सचमुच ही हिन्दुओं का महान् धर्म विश्व-कल्याण की एक प्रबल शक्ति है। इसी कारण इस धर्म के पूर्व-उपलब्धियों का इतिहास इतना गरिमामय है। और इसी कारण हिन्दू अपने धर्म के और भी उज्ज्वल भविष्य में दृढ़ विश्वासी है।

परवर्ती अध्यायों में इस धर्म के मूलभूत तत्त्वों पर संक्षेप में विचार किया गया है।

२. धर्म क्या है

हिन्दुओं का 'धर्म' से क्या तात्पर्य है

ईश्वर के विषय में किसी धारणा तथा उनकी उपासना की किसी भी पद्धति को अंग्रेजी में 'रिलीजन' कहते हैं। पश्चिम का 'रिलीजन' अपने अनुयाइयों से अपेक्षा रखता है कि वे किसी साम्प्रदायिक मतवाद में विश्वास रखकर उसके द्वारा अनुमोदित कर्मकाण्ड का अनुष्ठान करते रहें।

परन्तु हिन्दुओं के 'धर्म' शब्द का तात्पर्य इससे कहीं अधिक गम्भीर तथा व्यापक है। संस्कृत भाषा की 'धृ' धातु से निष्पन्न 'धर्म' शब्द का अर्थ होता है – वह जो धारण किये रहे। विश्व की प्रत्येक वस्तु का अपना एक धर्म है। क्योंकि प्रत्येक वस्तु का अस्तित्व निश्चित रूप से किसी-न-किसी अन्य वस्तु पर आधारित होता है। इससे सहज ही समझा जा सकता है कि सभी वस्तुओं का अस्तित्व उसके मूल स्वभाव पर निर्भर करता है। क्योंकि मूल स्वभाव को हटा देने से उस वस्तु के अस्तित्व का ही लोप हो जाता है। इस कारण वस्तु के मूल स्वभाव को ही उसका धर्म कहा जाता है। यथा – अग्नि का धर्म है उसकी दाहिका शक्ति और जड़ वस्तु का धर्म है उसका स्थावरत्व। इसी प्रकार मनुष्य का भी एक स्वभाव है, जो उसे विश्व के अन्य पदार्थों तथा प्राणियों से पृथकता प्रदान करती है। मनुष्य का यह मूल स्वभाव ही उसका धर्म अर्थात् मानव-धर्म है।

प्रश्न उठता है कि मनुष्य का वह मूल स्वभाव क्या है? हिन्दुओं के अनुसार मनुष्य में ईश्वरीय भाव से परिपूर्ण हो जाने की एक असाधारण क्षमता है। अपनी इसी क्षमता के कारण ही मनुष्य अन्य प्राणियों से पृथक् होने का दावा रखता है और इस कारण उसकी यह विशेष क्षमता ही मानव-धर्म है।

मनुष्य के हृदय में देवत्व निहित है, अत: उसका यह रूपान्तर सहज ही सम्भव है। हिन्दू धर्म कहता है कि ईश्वर सर्वत्र विराजमान हैं।[१] वे हमारे हृदय में भी हैं।[२] स्वरूपत: हम ईश्वर से अभिन्न हैं। परन्तु हमारा यह स्वरूप हृदय के भीतर छिपा रहता है। मन के शुद्ध न होने तक हमें उसका बोध नहीं होता। जैसे बल्ब पर धूल की परत जमी रहने पर उसके भीतर का प्रकाश दिखाई नहीं पड़ता; ठीक वैसे ही मन के मलिन रहने पर दिव्य-ज्योति दिखाई नहीं देती – यद्यपि ईश्वर सर्वदा ही हमारे भीतर-बाहर व्याप्त रहते हैं। अतएव जैसे प्रकाश प्राप्त करने के लिए बल्ब के काँच को साफ रखना जरूरी है, ठीक वैसे ही हृदय-देवता को प्रकट करने के लिए मन को शुद्ध करना पड़ता है।

काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, द्वेष, अहंकार, स्वार्थपरता आदि मलिनताएँ ही हमारे अन्तर्निहित देवत्व का आवरण हैं। जब तक मन इनके वश में रहता है, तब तक पग-पग पर हमसे भूलें होती रहती हैं और कई बार तो हमारा आचरण पशुओं जैसा हो जाता है। ये मानसिक दुर्बलताएँ हमारे दुख का बोझ असह्य बना देती हैं और हमारे सगे-सम्बन्धियों तथा पड़ोसियों में से अनेकों के मन में अशान्ति पैदा करती हैं।

मन की इस मलिनता के कारण अपनी सहज अवस्था में हम प्राय: पशु के समान ही आचरण करते हैं। तथापि हम लोग यथार्थ पशु नहीं हैं, क्योंकि हममें ईश्वर की ओर बढ़ने की क्षमता है, जो पशुओं में नहीं है। मन की सारी मलिनताओं को दूर करके अपनी दिव्यता को प्रकट करने की शक्ति लेकर मनुष्य जन्म लेता है। यही हमारा मानव-धर्म है। जो लोग इस मानव-धर्म की अवहेलना कर काम-क्रोध आदि में उन्मत्त रहना चाहते हैं, वे अब भी मनुष्य नहीं बन सके हैं – वे अब भी

३. The Legacy of India, Edited by G.T.Garratt, Pp. 1-24

१. ईशावास्य उपनिषद्, १
२. गीता, अध्याय १८, श्लोक ६१

मनुष्य के रूप में पशु ही हैं। पर जो लोग मन को पूर्णतः शुद्ध-निर्मल करके उसमें अन्तर्निहित देवत्व को प्रकट करते हैं, वे ही यथार्थ मनुष्य – पूर्ण मानव हैं।

वस्तुतः मार्ग काफी लम्बा और लक्ष्य बहुत दूर है। प्रच्छन्न देवत्व की पूर्ण अभिव्यक्ति आसानी से नहीं होती। एक कदम चलकर ही पूरा मार्ग पार नहीं किया जा सकता। तथापि यह निश्चित है कि धर्म-पथ पर थोड़ा-सा भी अग्रसर होते ही उसके सुफल का बोध होने लगता है। मन की पवित्रता बढ़ने के साथ-ही-साथ हममें ज्ञान, शक्ति तथा आनन्द का स्फुरण होने लगता है। इस आध्यात्मिक उन्नति का जरा-सा स्वाद मिलते ही हम और भी अधिक ज्ञान, शक्ति तथा आनन्द पाने के लिए व्यग्र हो उठते हैं।

कई जन्मों तक इसी प्रकार चलते-चलते जब मन पूर्णतः शुद्ध हो जाता है, तभी व्यक्ति को भगवान का दर्शन तथा स्पर्शन मिलता है और उनके साथ बातचीत होती है। यहाँ तक कि उनके साथ एकत्व का बोध भी हो सकता है। वस्तुतः तभी मनुष्य को पूर्णता की उपलब्धि होती है, क्योंकि जो दिव्यता अब तक उसमें प्रच्छन्न थी, वह अब पूर्ण रूप से व्यक्त हो उठती है।

जो लोग सचमुच ही ईश्वर को पा लेते हैं, वे उन्हीं के समान हो जाते हैं। वे प्रेम, आनन्द, शक्ति तथा ज्ञान से परिपूर्ण हो जाते हैं। वे जड़ प्रकृति से ऊपर उठकर पूर्णतः मुक्त हो जाते हैं। तब वे न तो किसी वस्तु से बँधते हैं और न विचलित ही होते हैं। कोई भी बाधा उनके मन की अविराम शान्ति को भंग नहीं कर सकती। उनके लिए अभाव, दुख, भय, द्वन्द्व या क्षोभ का कोई कारण नहीं रह जाता। उनके मुख-मण्डल पर सदैव दिव्य आनन्द की आभा विराजती है और उनके आचार-व्यवहार का अलौकिक माधुर्य देखकर उन्हें देव-मानव के रूप में पहचानते देर नही लगती। उनके पूर्ण निःस्वार्थ हृदय से सबके लिए समान रूप से प्रेम प्रवाहित होता रहता है। जो कोई भी ऐसे महात्मा के सम्पर्क में आता है, उसके हृदय में शक्ति-पवित्रता तथा शान्ति का संचार हो जाता है। वस्तुतः ऐसे महापुरुषों को ही 'मानव-जीवन की पूर्णता प्राप्त हुआ' कहा जा सकता है। ऐसे लोगों को ही 'सच्चा धार्मिक' या 'पूर्ण मानव' कहते हैं।

विभिन्न युगों तथा विभिन्न देशों में ऐसे अनेक ईश्वर-द्रष्टा देव-मानवों का आविर्भाव हुआ है। ये लोग ही मानव-समाज के रत्न हैं। हृदय की पूर्णता के आवेग में वे लोग अपने अपने जीवन की अनुभूतियों का प्रचार कर गये हैं। जिस पथ पर चलकर उन्होंने भगवान का दर्शन पाया था, उस पथ का विवरण वे अपने अनुयाइयों को दे गये। उनके इन उपदेशों के आधार पर ही संसार के अनेकांश धर्मो का गठन हुआ है।

चित्तशुद्धि के लिए भिन्न-भिन्न महापुरुषों ने भिन्न-भिन्न पथों का आविष्कार किया। उनके विभिन्न उपदेशों की मूल बातों में कोई भेद नहीं है – भेद है तो केवल बाह्य विवरणों में। संसार के सभी सच्चे धर्म निष्ठावान साधक को पूर्णता की ओर ले जाते हैं। प्रत्येक धर्म भगवान की प्राप्ति का एक सच्चा मार्ग है। धर्म के विषय में ऐसी उदारता तथा सार्वभौमिक धारणा हिन्दू नर-नारियों ने अपने शास्त्रों से सीखी है।

हिन्दुओं का विश्वास है कि ईश्वर-द्रष्टा ऋषियों तथा अवतारों के उपदेशों से धर्मों को जो रूप मिला है, उनमें कोई भूल नहीं हो सकती। महापुरुषों के मूल उपदेश जगत् की अमूल्य सम्पद हैं। इन्हीं से मनुष्य को आगे बढ़ने का निश्चित और

प्रेम परम उल्लास

भानुदत्त त्रिपाठी 'मधुरेश'

प्रेम परम उपचार है प्रेम परम मधुमास।
ठूँठों में भी प्रेम से खिल उठता उल्लास।।
राह कठिन है प्रेम की, प्रेम न सस्ता जान।
प्रेम सदा ही चाहता, प्रेमी का बलिदान।।
प्रेम-सिन्धु की थाह को, भला पा सका कौन?
अनपाये बकते बहुत, पाये रहते मौन।।
कठिन प्रेम की राह पर, चलते विरल समर्थ।
विश्व प्रेम ही प्रेम है, और प्रेम सब व्यर्थ।।
प्रेम-पीर सहते बने, कहते कभी बने न।
चैन नहीं मन को मिले, यही प्रेम की देन।।
प्रिय को देता मान औ' रहता स्वयं अमान।
प्रेमी के ध्रुव प्रेम की, यही एक पहचान।।
मन से मन का मेल है, भले न तन का संग।
विधु विलोक कर सिन्धु में, उठती प्रेम-तरंग।।
प्रेम-वेदिका पर करे जो सब कुछ बलिदान।
उसको ही संसार में, सच्चा प्रेमी जान।।
प्रेम-बिना भाये नहीं, राजभोग पकवान।
विदुर गेह में शाक खा, तृप्त हुए भगवान।।
परम शक्ति है प्रेम में, प्रेम मुक्ति का द्वार।
निराकार भी प्रेम से, हो जाता साकार।।
परम पुरातन प्रेम है, रहता नित्य नवीन।
जाने कब से सिन्धु में, नदी हो रही लीन।।
प्रेम-भावना से जहाँ, बजते उर के तार।
सबको लगता है वहाँ, विश्व एक परिवार।।

सही मार्ग प्राप्त होता है। ये ही जगत् के सच्चे धर्म हैं।

परन्तु दुख की बात यह है कि संसार में धर्म के नाम पर जो कुछ चलता है, उसमें धर्म के सार भाग की अपेक्षा असार भाग ही अधिक है। महापुरुषों की वाणी का मर्म कालान्तर में कुछ बुद्धिहीन मतवादों तथा रूढ़ियों के ढेर के नीचे दब जाता है। इन महापुरुषों के तिरोधान के काफी काल बाद प्राय: अयोग्य लोगों पर धर्म के संरक्षण का भार आ पड़ता है और इसी कारण कालान्तर में धर्म की ऐसी दुर्दशा होती है। क्योंकि तब अपवित्र मन के लोग ही धर्माचार्य तथा पुरोहित का आसन ग्रहण कर लेते हैं। सूक्ष्म आध्यात्मिक अनुभूति की कौन कहे, वे लोग महापुरुषों के मूल उपदेशों का तात्पर्य तक नहीं समझ पाते। इस कारण दूसरों को धर्म समझाने के चक्कर में वे धर्म के यथार्थ तत्त्व को विकृत कर डालते हैं। उनकी व्याख्या तथा प्रचार के फलस्वरूप धर्म आचार-बहुल कट्टरता में परिणत हो जाता है। उनके शिष्यगण धर्मान्ध तथा उद्धत हो जाते हैं और तब धर्म के नाम पर कलह तथा अशान्ति की सृष्टि होने लगती है। अपनी चित्तशुद्धि के लिए धर्म का आचरण न करके, वे लोग धर्म के नाम पर एक-दूसरे का प्राण लेने पर तुल जाते हैं। हाय, अनधिकारी लोगों के हाथ पड़कर धर्म की कैसी शोचनीय दशा हो जाती है !

जैसा कि स्वाभाविक है, धर्म का यह बीभत्स रूप देखकर बुद्धिमान लोग नाराज हो जाते हैं। परन्तु दुर्भाग्य की बात यह है कि नाराज होकर वे लोग पूरे धर्म को ही त्याग देना चाहते हैं। परन्तु जगत् में सर्वदा ऐसे कुछ विवेकशील व्यक्ति भी होते हैं, जो अज्ञ पुरोहितों के ढोंगों के बहकावे में नहीं आते। पूरी बात पर विचार करके वे समझ जाते हैं, अज्ञ पुरोहितों तथा धर्म-प्रचारकों द्वारा उत्पन्न की गई भ्रान्तियाँ धर्म के बाहरी स्तर तक ही सीमित हैं, उसका भीतरी स्तर सर्वदा ही अमूल्य सम्पदा से परिपूर्ण रहता है।

हिन्दू धर्म के अध्ययन से यह पता चलता है कि यथार्थ धर्म और ग्लानिग्रस्त धर्म के बीच कितना व्यवधान है। हिन्दू शास्त्रों ने स्पष्ट कहा है कि अनधिकारी धर्मगुरुओं से धर्मशिक्षा लेना संकट का मूल है। धर्म को उसके मूल – महापुरुषों की अमर वाणी में ढूँढ़ना होगा। व्याख्या की जरूरत होने पर केवल ईश्वर-द्रष्टाओं पर ही निर्भर करना होगा। केवल इतना ही नहीं, हिन्दू शास्त्रों का विधान है कि केवल सिद्ध व्यक्ति को ही गुरु के रूप में वरण करना चाहिए।

यह बात याद रखनी होगी कि धर्म साधना की वस्तु है। केवल बातों के आडम्बर से कुछ नहीं होगा। सच्चा मनुष्य बनने के लिए हमें अपने मन को पवित्र करना होगा। यही हमारा प्रथम और प्रधान कर्तव्य है। केवल हिन्दू, मुसलमान या ईसाई कहकर अपना परिचय देने अथवा किसी धर्ममत में आस्था दिखाने या फिर अपने धर्म-शास्त्रों में विशेष पाण्डित्य हासिल कर लेने से भी कोई धार्मिक नहीं बन जाता। धार्मिक बनने के लिए अपने धर्म के अवतारों तथा महापुरुषों की शिक्षाओं के अनुसार आचरण करना पड़ता है, पूरे जीवन को नियंत्रित करना पड़ता है। अभीष्ट-प्राप्ति का यही एकमात्र उपाय है। अपने अन्तर के दैवी भाव का विकास करके हमें सच्चा मनुष्य बनना होगा और इसके लिए हमें प्राणपण से चेष्टा करनी होगी।

वस्तुत: धर्मलाभ अर्थात् अपनी यथार्थ मानवता का स्फुरण तभी होता है, जब भगवान अन्तर में पूर्ण रूप से प्रकट हो जाते हैं। मानव जीवन की यह चरम सार्थकता हासिल करने के लिए सजग साधना की आवश्यकता है।

वर्तमान अध्याय की मूल बातें इस प्रकार हैं – ईश्वर विश्व में सर्वत्र विराजते हैं।[३] एकमात्र मनुष्य ही उन्हें अपने आपमें प्रकट करके पूर्णत: दिव्य बन सकता है।[४] तभी उसके जीवन में चरम सार्थकता आती है। तभी यह विश्व की बाकी जीवों से पृथक् यथार्थ मनुष्य के पद पर आरूढ़ होता है। तभी वह सहज स्वाधीनता, असीम आनन्द, असीम क्षमता और अनन्त ज्ञान का अधिकारी बनता है। आध्यात्मिक अनुभूति से निकली उसकी अमोघ वाणी सामान्य जन को कर्मपथ पर आगे बढ़ने की प्रेरणा देती है। मानव-जीवन के चिर काम्य इस लक्ष्य तक पहुँचने का पथ दिखाना ही धर्म का कार्य है। विभिन्न अवतारों द्वारा प्रवर्तित धर्ममतों में से हर एक इस उद्देश्य की प्राप्ति का सच्चा पथ है और इसी कारण धर्म साधनसापेक्ष है। धर्मोपदेश पालन करने के लिए निष्ठापूर्ण साधना की जरूरत है। हमें धर्म के निर्देशों के अनुसार अपने जीवन की गति नियंत्रित करनी होगी, आचार-व्यवहार सुधारने होंगे। अन्यथा यदि हम अपने मन के कीचड़ में ही पड़े रहे, तो निश्चय ही हम पशु के स्तर पर रह जायेंगे।

धर्म से हिन्दुओं का क्या तात्पर्य है, उसे संक्षेप में समझाने के लिए इस अध्याय में हिन्दू धर्म की कुछ मुख्य बातें संक्षेप में बतायी गयी हैं। ❖ **(क्रमश:)** ❖

३. छान्दोग्य उपनिषद् ३/१४/१ ४. मुण्डक उपनिषद् ३/२/९

श्रीमद्-विवेकानन्द स्वामी का सचित्र संक्षिप्त जीवन चरित्र

पं. माधवराव सप्रे

(स्वामी विवेकानन्द के देहत्याग के तत्काल बाद 'छत्तीसगढ़ मित्र' पत्रिका के सम्पादक ने स्वामीजी के देहत्याग के पश्चात् उनकी स्मृति में जो प्रबन्ध लिखकर अपने जुलाई, अगस्त तथा अक्तूबर १९०२ के तीन अंको में प्रकाशित किया था। उनमें से पहले लेख का पुनर्मुद्रण ठीक १०० वर्ष बाद 'विवेक-ज्योति' के अगस्त २००२ के अंक मे हुआ था। उसके बाद के दो अंकों में प्रकाशित सामग्री हमें लेखक के पौत्र डॉ. अशोक सप्रे के सौजन्य से प्राप्त हुई है। उन दिनों स्वामीजी की कोई जीवनी प्रकाशित नहीं हुई थी और उनके जीवन के बारे में काफी कम जानकारी प्राप्त थी, अत: कई तथ्यगत भूलें आ गयी हैं, अतिशयोक्तियाँ भी हैं, कही कहीं पाद-टिप्पणी से सूचित किया गया है। इसमें उस काल की हिन्दी का भी नमूना प्राप्त होता है, अत: हमने इसमें प्रयुक्त शब्दों आदि को यथासम्भव यथावत् रहने दिया है। इन लेखों का महत्त्व इसी मे है कि ये सौ वर्षो से भी अधिक काल पूर्व प्रकाशित हुई थी और इन्हे पढ़कर हम कल्पना कर सकते है कि उन दिनों जब स्वामीजी की जीवनी-विषयक जानकारियाँ बहुत कम उपलब्ध थी, लोग स्वामीजी के बारे में क्या क्या सोचते थे। – सं.)

तिब्बत से लौटकर[१] स्वामी जी तीर्थ यात्रा करने और स्वदेश का पूरा २ हाल जानने के हेतु पर्यटन करने को निकले। वे बंगाल से घूमते हुए सन १८९१-९२ ई. में पूने को भी कांग्रेस[२] के समय गये थे। कोई २ कहते हैं कि स्वामी जी ने कांग्रेस में एक घंटे तक बड़ी भारी वक्तृता दी थी, परंतु उस समय उनकी कुछ विख्याति नही हुई।

पूने से स्वामी जी ने रामेश्वर की यात्रा की और वहां पहुंचकर श्री रामनाथ के महाराजा से भेंट की। स्वामी जी का वेदान्त विषयक ज्ञान, उनकी तरुणावस्था का कठिन वैराग्य, वैदिक धर्म के उपदेश करने की उनकी उत्सुकता, अंग्रेजी में वक्तृता देने की उनकी अप्रतिम शक्ति और उनके रोम २ में झलकता हुआ ईश्वरी तेज देखकर महाराजा ने मन में स्वामी जी के विषय अत्यन्त आदर भाव उत्पन्न हुआ। यह भाव आजतक वैसा ही चला आता है और यद्यपि स्वामी जी अब इस संसार में नहीं हैं तौभी वह वैसा ही चला जायगा। श्रीरामनाथ के महाराजा ने स्वामी जी से कहा कि "आप अमेरिका को जायं; वहां **चिकागो** की बृहत् प्रदर्शनी में इस पृथ्वी के सब धर्मो की एक बड़ी भारी सभा–पार्लिमेन्ट–होने वाली है। उस सभा में सब धर्म के मुख्य २ महात्मा लोग एकत्रित होंगे। ऐसे समय पर हमारे देश का एक भी धर्मवेत्ता वहां न हो यह बड़े खेद की बात है! आप इस कार्य के सम्पादन का भार स्वीकार करें तो भारतवर्ष का ही नहीं किंतु सारे भूमण्डल का कल्याण होगा। मैं तन मन धन से सहायता देने को तैयार हूं"। यह बात स्वामीजी के भी मन में अच्छी तरह जम गई और तभी से वे इसका उद्योग करने लगे।

स्वामी जी ने अपना हेतु व्याख्यान द्वारा सब लोगों पर प्रगट किया और मद्रास से जहाज पर सवार होकर अमेरिका की यात्रा की। अनुमान है कि इसी समय आपने चीन और जापान देश भी देखे। किसी एक व्याख्यान में आपने कहा है कि "चीन देश के मुख्य २ मंदिरों पर ॐ लिखा हुआ है।"

इस प्रकार स्वामी विवेकानंद केवल अपनी हिम्मत पर अमेरिका जा पहुंचे। वहां तक पहुंचने में उन्हें बहुत खर्च लगा। एक तो वह पराया देश और उसमें भी किसी से जान पहिचान नहीं। ऐसी अवस्था में द्रव्याभाव के कारण साधारण मनुष्य को बड़ा कष्ट सहना पड़ता। परंतु जिन्होंने साक्षात् **लक्ष्मी** के पति को अपने आधीन कर लिया है उन्हें द्रव्य की न्यूनता कब हो सकती है? अमेरिका जैसे वैज्ञानिक और आधिभौतिक उन्नति के शिखर पर पहुंचे हुए देश में भी एक श्रद्धालु और परोपकारी स्त्री मिल गई जिसने स्वामी जी को बड़े आदर भाव से अपने घर में ठहराया। वहां कई सुशिक्षित और सभ्य जन आया करते थे। उनसे स्वामी जी की अध्यात्म विषय सम्बन्धी बातें होने लगीं; और जब उन्होंने स्वामी जी की अपूर्व विद्वत्ता और सब धर्मो के तत्वों की परिशीलनशक्ति तथा संभाषण करने की अप्रतिम कुशलता देखी तब तो उनकी कीर्ति तुरंत ही चारों ओर फैल गई। **"एक हिन्दू सन्यासी धर्म-विषयक पार्लिमेन्ट सभा के लिए यहां आया है। वह धर्म विषय में बड़ा निपुण है।"** इस प्रकार के समाचार अमेरिका के प्रतिष्ठित पत्रों में प्रकाशित होने लगे। जिधर देखो उधर **"हिन्दू सन्यासी"** के संबंध में चर्चा होने लगी। होते २ **रिलिजस पार्लिमेन्ट** अर्थात् धर्म सम्बन्धी सभा की तिथि भी समीप आन पहुंची। सभा के व्यवस्थापकों ने स्वामी जी को वक्तृता देने की सम्मति दी; और रिसेप्शन कमिटी (स्वागत करने वाली मंडली) ने, अन्यान्य देशों से आये हुए सब धर्माधिकारियों का स्वागत करने का भार भी उन्हीं को सौंप दिया। इस कार्य को स्वामी जी ने बहुत ही उत्तमता से निभाया। जब इस पृथ्वी के सब शास्त्रवेत्ता, धर्मपरायण महात्मा और वंदनीय पुरुष सभा में एकत्रित हो चुके तब स्वामी जी ने

१. स्वामीजी अपने जीवन में कभी तिब्बत नही गये थे। – सं.

२. यह भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस नही था, बल्कि वहाँ के डक्कन क्लब में हुई एक परिचर्चा थी। – सं.

इस आशय का उपोद्घात रूपी व्याख्यान दिया कि "आज का दिवस जगत के इतिहास में बड़ा अपूर्व है; क्योंकि आज यहां सब धर्मों के तत्ववेत्ता, पुण्यपुरुष और भगवद्भक्त एकत्रित हुए हैं। ऐसे स्थान का माहात्म्य स्वर्ग से कहीं बढ़कर है। ऐसे महात्मा पुरुषों के स्वागत करने का सन्मान मुझे प्राप्त हुआ है ! अतएव आज मैं अपने भाग्य का वर्णन कर नहीं सकता"। इस प्रकार अत्यन्त मनोरम और प्रेमरस से भरी हुई छोटी सी वक्तृता देकर स्वामी जी ने उस देश के शिष्टाचार के अनुसार प्रत्येक का आनंद पूर्वक स्वागत किया।[३]

नियत समय पर सभा का कार्य आरंभ हुआ। प्रत्येक धर्म के तत्ववेत्ताओं के लिए समय नियत कर दिया गया था। स्वामी विवेकानंद के धर्म-व्याख्यान का समय संध्या के साढ़े चार बजे था। **"एक तेजः पुंज और अप्रतिम वाक्पटु हिंदू सन्यासी की वक्तृता साढ़े चार बजे होगी"** – इस आशय के विशेष-विज्ञापन उसी समय छपवाकर बांटे गए। साढ़े चार बजने के पहिले ही इतनी भीड़ हो गई कि सभा में तिल रखने को भी जगह न रही। फिर कोई दरवाजे में, कोई खिड़की में और कोई रास्ते में खड़े रहे। कहते हैं कि सभासदों की संख्या लगभग पचास हजार के थी ! ठीक साढ़े चार बजे श्री स्वामी जी व्यास-पीठ पर विराजमान हुए। उस समय उन्होंने गेरुआ वस्त्र परिधान किया था। सिर पर फेंटा, बदन में कफनी और पैरों में पायजामा – यही उनकी पोशाक थी। स्वामी जी के प्रसन्न मुख, वैराग्यतेज, भव्य शरीर, विशाल नेत्र आदि की शोभा देखते ही प्रेक्षकों ने करतल ध्वनि से अपना आनंद प्रदर्शित किया। तब स्वामी जी ने "संसार में एक धर्म हो सकता है या नहीं; यदि हो सकता है तो वह कौन सा है?" इस विषय पर एक बृहत् सारगर्भित और रसीली वक्तृता दी जिसका मुख्य आशय यह था कि "जिस प्रकार संसार में सभी मनुष्यों का धनवान होना या सभी मनुष्यों का सुखी होना असंभव है उसी प्रकार पृथ्वी में **एक धर्म** का होना भी अतीव दुस्तर है। तथापि, यदि कोई ऐसा **एक धर्म** हो भी कि जो दुनिया के सब विचारवान लोगों को मान्य हो सकता है तो वह **वैदिक धर्म** ही है।"

स्वामी जी की उपरोक्त वक्तृता में गंभीरता, मधुरता और शास्त्र सम्मति कूट २ कर भरी थी। कहीं २ किंचित् विनोद की छटा भी दृष्टिगोचर होती थी। इसी से सारा प्रेक्षक समूह आनंद सागर में निमग्न हो चित्रवत् तल्लीन हो गया था ! वहां कई लोगों के मुख से आप ही आप ऐसे उद्गार निकलने लगे कि "यह स्थिति ईश्वरी प्रसाद के बिना कभी प्राप्त हो नहीं सकती। स्वामीजी को ईश्वर का अवश्य कुछ वरदान मिला होगा। कदाचित उन्हों ने साक्षात् ईश्वर का दर्शन भी पाया हो !" अस्तु।

दूसरे दिन से अमेरिका के समाचारपत्रों में स्वामी जी के ज्ञान की प्रशंसा करने में स्पर्धा होने लगी। एक ने "श्रीमद्विवेकानंद स्वामी साक्षात् ईश्वरी अंश हैं" कहा तो दूसरे ने उन्हें "नखशिखान्त आत्मतेज की मूर्ति" और तीसरे ने "अध्यात्मज्ञान तथा ब्रम्हप्रसाद का पुतला" कहा। इस प्रकार थोड़े ही दिनों में उनकी कीर्ति अमेरिका में ही नहीं किन्तु सारे यूरोप भर में फैल गयी। भिन्न २ धर्म के बड़े २ लोग उनसे शास्त्रार्थ करने के लिए आने लगे। स्वामी जी ने वहां **"भक्तियोग"** पर एक और **"कर्मयोग"** पर आठ व्याख्यान दिये। इस समय हम इनका अधिक विवेचन न करके केवल इतना ही लिख देते हैं कि इन व्याख्यानों में "गृहस्थाश्रम और सन्यास का महत्व क्या है? कर्तव्य किसे कहते हैं? निष्कार्म कर्म किस प्रकार से किया जाता है? संसार में रहते हुए और प्रपंच करते हुए परमार्थ कैसे साध्य हो सकता है?" इत्यादि अनेक विषय सन्निविष्ट हैं। "कर्मयोग के बाद उन्होंने **"राजयोग"** पर वक्तृता दी जिसमें "प्राण किसे कहते हैं? प्राणायाम कैसे किया जाता है? उससे कौनसी शक्ति प्राप्त होती है?" इत्यादि विषयों का विवेचन करके प्रत्याहार, ध्यान, धारणा, समाधि आदि मार्गों के द्वारा परमेश्वर के स्वरूप में मिल जाने का उपाय बतलाया है। अमेरिका के कई लोग स्वामी जी के अप्रतिम ज्ञान पर इतने मोहित हो गए कि सर्व संग परित्याग करके उसी क्षण उनके अनुयायी बन गए। केवल इतना ही नहीं, उन्होंने वहां स्वामी जी का एक मठ स्थापित किया और विरक्त होकर उसीमें रहने लगे। कुछ दिन हुए कि **श्रद्धानंदा** नाम की स्वामी जी की एक चेली अमेरिका से उनके दर्शन करने यहां आई थी। उसने उस समय वेदान्त विषय पर बंबई में वक्तृता भी दी थी। दूसरी मिस नोबल (जो कि **भगवती निवेदिता** Sister Nivedita के नाम से पुकारी जाती है) नामकी एक श्रीमान की लड़की अब भी हिन्दुस्तान में अपने परोपकारी कार्यों से लोगों को लाभ पहुंचा रही है।

इस प्रकार अमेरिका जैसे अनात्मवादी देश में जाकर श्री स्वामी विवेकानंद ने, पृथ्वी के भिन्न २ धर्मों के हजारों प्रतिनिधियों के सामने, भारत के वेदान्त मत की प्रतिष्ठा प्रगट की, हिन्दू मठ स्थापित किया, सैकड़ों स्त्री पुरुषों को धर्म की शिक्षा दी और आर्य धर्म की विजय ध्वजा फहराते हुए इंग्लैन्ड की ओर चले। स्वामी जी ने अमेरिका में जो यश प्राप्त किया था वह समाचार पत्रों के द्वारा इंग्लैन्ड में पहिले ही से प्रसिद्ध हो चुका था। वहाँ के सब लोग स्वामी जी के दर्शन करने तथा उनके मुखारविंद ने निकले हुए उपदेशामृत का पान करने के लिए अत्यन्त उत्कण्ठित हो रहे थे। इंग्लैन्ड के लोगों ने स्वामी जी का भली भांति आदर सत्कार किया। स्वामी जी ने

३. स्वागत का ऐसा कोई उत्तरदायित्व उन पर नहीं था। – सं.

वहां "ज्ञानयोग" पर कई व्याख्यान दिये। अहा! हमारे ज्ञानयोग की महिमा कैसी अपरम्पार है! इसकी महिमा गाने वाले स्वामी जी जैसे अवतारी पुरुष और सुनने वाले वही अंग्रेज लोग मिले कि जिनके आधिभौतिक ज्ञान के प्रकाश से इस समय सम्पूर्ण जगत जगमगा रहा है, जिनकी अलौकिक चतुरता से सारी दुनियां चकित हो रही है, जिनकी विलक्षण बुद्धिमानी से पांचों तत्व (पृथ्वी, जल, वायु तेज और आकाश) उनके दास हो गए हैं, और जिनकी अद्भुत राजनीति रूपी रस्सी से बड़े २ राज्य बंध गए हैं। अब यह कहने की आवश्यकता ही क्या है कि स्वामी जी के "ज्ञानयोग" से सब श्रोताओं के अंत:करण प्रमुदित हो गए।

स्वामी जी कुछ दिनों तक इंग्लैंड में रहे और वहां के कई शहरों में उन्होंने वक्तृता दी। दो तीन स्थानों में उन्होंने अपने गुरु के नाम के मठ स्थापित किए और नास्तिकों तथा अनीश्वरवादियों को सच्चे धर्म की शिक्षा देकर सच्चिदानंद की प्राप्ति का द्वार खोल दिया। इस प्रकार अपनी तीन चार वर्ष की प्रथम विदेश यात्रा पूरी करके स्वामी जी ता० २५ जनवरी सन् १८९७ ई. को स्वदेश लौट आये। उसी दिन वे कोलम्बो में विलायती जहाज से नीचे उतरे।

(तीसरा भाग, अक्तूबर १९०२ अंक में प्रकाशित)

कोलंबो में स्वामी जी का एक मठ है जिसमें उनके गुरुभाई स्वामी **निरंजनानन्द** जी रहते हैं। उन्होंने स्वामी जी के स्वागत करने में कोई बात न उठा रखी। शहर के सब सेठ, साहूकार महाजन, विद्वान और धार्मिक लोगों ने स्वामी जी को एक मानपत्र दिया जिसके उत्तर में उन्होंने अत्यन्त सारगर्भित और रोचक वक्तृता की जिसका सारांश यह है – "आप लोगों ने मुझे जो इतना बड़ा सन्मान दिया है उससे मैं आपका बड़ा उपकार मानता हूं। सच पूछिये तौ इस सन्मान की कोई आवश्यकता ही नहीं है, क्योंकि मैं न तो कहीं का राजकार्य विशारद विलक्षण पुरुष हूं और न कहीं का बड़ा रणशूर योद्धा हूं। मैंने न तो कहीं का राज्य प्राप्त किया है और न किसी लड़ाई में बहादुरी का काम किया है। मैं पृथ्वी पर भिक्षाटन करने वाला एक साधारण सन्यासी हूं। मैंने सब लोगों को केवल इतना ही दिखला दिया है कि हिन्दू धर्म सबसे श्रेष्ठ है और धर्म ही राष्ट्र का एक मात्र आधारस्तम्भ है।" अस्तु। यहां कुछ दिन रहकर स्वामी जी ने प्रथम दक्षिण–भारत में भ्रमण किया। श्री रामनाथ के महाराजा ने बड़ी धूमधाम से स्वामीजी का स्वागत किया। कहते है कि स्वामी जी जिस रथ पर बैठे थे उसको बड़े २ आदमियों ने खींचा था, और स्वयं महाराजा साहिब ने भी रथ को अपना हाथ लगाया था। शिवगंगा, मदुरा, त्रिचनापल्ली, तंजौर आदि बड़े २ शहरों में से होते हुए स्वामी जी कुम्बकोनम् पहुंचे और वहां कई व्याख्यान दिये। स्वामी जी ने मद्रास में जो बड़े २ पांच व्याख्यान दिये उनके नाम नीचे लिखे हैं :—

[१] मेरे भ्रमण का उद्देश्य।
[२] हिंदू लोगों में वेद की श्रद्धा।
[३] भरतखंड का सन्त-मण्डल।
[४] भविष्यत में हमारा कर्तव्य।
[५] हिन्दुस्तान की भावी दशा।

मद्रास से स्वामी जी कलकत्ते को गये। कलकत्ता तो उनका जन्म स्थान ही था, दूरसे देखते ही उनके अंत:करण में प्रेमानंद की उमंगें उठने लगीं। स्टेशन पर लगभग पांच छ: हजार लोग इकट्ठे हुए थे। दरभंगा के महाराजा किडरपुर स्टेशन से स्पेशल ट्रेन में आये थे और श्रीमान राजा श्रीराधाकान्त देव बहादुर, राजा विनयकृष्ण बहादुर आदि बड़े २ लोग भी वहां उपस्थित थे। सब लोगों ने मिलकर स्वामी जी को अत्यन्त आदरपूर्वक एक एड्रेस दिया। उसमें स्वामी जी को "हमारे बंधु" कहकर सम्बोधन किया है। इसी के लक्ष्य में स्वामी जी ने कहा "हां, यथार्थ में मैं आपका बंधु हूँ, और आप मेरे बंधु हैं। मैंने यहीं आप लोगों में रहकर अपनी बाल्यावस्था के दिन बिताए हैं। मैं आप ही लोगों में रहकर छोटे से बड़ा हुआ हूं, और आप ही लोगों में रहकर लिखना पढ़ना सीखा हूं। इन सब बातों से मैं अपने तईं बड़ा भाग्यवान समझता हूं। मैंने अपनी यात्रा में बहुत से देश देखे और हजारों लोगों से बातचीत की। परंतु मुझे मेरी यह जन्मभूमि ही प्यारी लगती है, उसी के दर्शन से मुझे आनंद होता है, उसीको मैं अपना गौरव समझता हूँ, वही मुझे पवित्र और रम्य दिखाई देती है।" इतना कह रहे थे कि उन्हें अपने परम पूज्य गुरू श्रीरामकृष्ण परमहंस का स्मरण हुआ। उस समय उनकी ठीक वैसी ही दशा हुई जैसी कि किसी अनाथ बालक की, माता पिता के वियोग से, होती है। उनके नेत्रों से अश्रु की धारा बहने लगी, आवाज धीमी हो गई और शब्दों के उच्चारण अस्पष्ट होने लगे। परंतु शीघ्र ही कुछ सम्हल कर फिर कहने लगे कि "मैंने यदि कुछ लोकसेवा की है तो उसे श्री परमहंस महाराज की कृपा का फल समझिये। मेरे मुख से जितने मधुर, कोमल और उचित शब्द निकले हों वे सब गुरू जी के हैं, और जितने कठोर, तथा निरर्थक शब्द हों वे सब मेरे हैं।" इस व्याख्यान के उपसंहार में स्वामी जी ने कहा कि "आप और हम सब इस जगत रूपी नौका में बैठे हैं। मैं आप लोगों के साथ ही इसमें प्रवास करता हुआ यह बतला रहा हूं कि आपकी नौका सरल मार्ग से चल रही है या नहीं। यदि आप लोग पार उतरेंगे तो आपके साथ ही मैं भी पार उतर जाऊँगा। आप ही यदि आलस करेंगे तो यह नौका अवश्य डूब जायगी। आपके साथ मैं भी डूबने को तैयार हूं। चाहे अच्छा हो या

बुरा, मैं तो आप ही लोगों का साथी हूं। आप इस बात को खूब ध्यान में रहने दीजिए कि स्वार्थी मनुष्य की नाईं, इस नाव पर से कूदकर, आप लोगों को यहीं छोड़कर, मैं अकेला ही उस पार कभी नहीं जाऊँगा।'' कलकत्ते में कुछ दिन रहकर स्वामी जी ने "Vedant in all its phases" इस विषय पर व्याख्यान दिये और फिर हिमालय की ओर चले गये।

अब की बार स्वामीजी हिमालय में बहुत दिनों तक रहे। वहां से एकबार फिर कलकत्ते को गये और मद्रास होते हुए, **पैरिस की प्रदर्शनी** के लिये, ता. २० जून १८९९ को जहाज पर रवाना हुए। पैरिस में स्वामी जी के व्याख्यान बहुत ही अच्छे हुए। **डाक्टर गुस्तव आपर्ट** ने सालिग्राम-पूजा की उत्पत्ति के विषय पर जो एक व्याख्यान दिया था उसमें, हिंदूधर्म के तत्व के विरुद्ध कुछ बातें कही थीं। उसका उत्तर स्वामी जी ने ऐसा समर्पक दिया कि बड़े २ नास्तिकों और अनात्मवादियों को भी सालिग्राम-पूजा का महत्व स्वीकृत करना पड़ा। पैरिस से स्वामी जी **कान्स-टैन्टीनोपल** (कुस्तुन्तुनिया) को गये और वहां से गतवर्ष के जुलाई महीने में हिन्दुस्थान को लौट आये। इस यात्रा में भी उनकी विद्या, वक्तृता, वैराग्य और हिंदूधर्म के प्रसार की प्रबल इच्छा से उनका जय हुआ। स्वामी जी ने हिंदूधर्म के प्रसारार्थ कितना बड़ा उद्योग किया इसकी परीक्षा (यदि स्वामी जी के कार्यों की परीक्षा करने की कुछ आवश्यकता है तो) इसी एक बात पर से हो सकती है कि **न्यूयार्क, डिट्रायट, ब्रूकलीन, केलिफ़ोर्निया, सैनफ्रेंकिस्को, चिकागो, ग्रीनएकर,** और **लंदन** आदि पाश्चिमात्य शहरों में स्थापित किए हुए उनके मठ अब तक विद्यमान हैं जिनमें हजारों स्त्री पुरुष वेदान्त तथा हिंदूधर्म की चर्चा कर रहे हैं और स्वामी जी के सुकार्यों को दृढ़ता पूर्वक प्रतिपादन कर रहे हैं। प्रत्येक हिंदू के हृदय में इस बात का अभिमान होना चाहिए कि उसके **धर्म** की **विजयध्वजा** पासिफ़िक महासागर के तीर पर फहरा रही है* जो अब किसी भांति वहां से हट नहीं सकती!

स्वकर्तव्यपरायण और उद्योगी पुरुष को चैन कहां है? स्वामी विवेकानंद कलकत्ते से तीन चार मील की दूरी पर गंगा जी के किनारे अपने बेलूर मठ में रहते थे। तौभी वहां नित्य मुमुक्षु जनों की इतनी भीड़ रहा करती थी कि स्वामी जी को दम लेने की फुरसत नहीं मिलती थी। इसके अतिरिक्त उन्हें अपने विदेशीय शिष्यों को संस्कृत की शिक्षा और हिंदूधर्म का उपदेश देना पड़ता था। कभी २ कलकत्ते के विद्वज्जन एकत्रित होकर धार्मिक सभा करते थे जिसमे स्वामी जी को उपस्थित रहकर धर्म की चर्चा करनी पड़ती थी। इस प्रकार के अनेक कठिन कार्य करते २ स्वामी जी का स्वास्थ्य कुछ बिगड़ गया और अंत में गत पांचवीं जुलाई[४] को उनका देहांत हो गया!

वे कुछ बहुत दिनों तक बीमार नहीं थे। वे अपनी आंतरिक दृष्टि से जान गये थे कि अब भूलोक पर का उनका कार्य समाप्त हो गया और समाधि लेने का समय निकट आया। जिस दिन स्वामी जी समाधिस्थ हुए उस दिन वे प्रात:काल को उठकर नित्य नियमानुसार बाहर से घूमकर आए और तीन घंटे तक अपने शिष्यों को संस्कृत में वेदों की शिक्षा देते रहे। जब उनका समाधिकाल अत्यंत सन्निध आन पहुंचा तब उन्होंने शिष्यों को अपने समीप आने को कहा और किसी प्रकार की वेदना प्रकाशित न करते हुए शांतता से तीन बार दीर्घ निश्वास छोड़कर इस नाशवान शरीर का त्याग किया।

हा शोक! जिसने एक ही बार स्वामी जी से भाषण किया है वह कभी उनकी मधुर मनमोहनी वार्तालाप को नहीं भूल सक्ता। तौ हम लोग, कि जिनके लिए स्वामी जी ने अपने स्वास्थ्य की कुछ परवाह न करके अमृत से भरे हुए व्याख्यान दिए हैं, उनके उपदेशो को कैसे भूल सकते हैं? शोक है कि अब वह विशाल मूर्ति हमारी दृष्टि से अलग हो गई! हाय! अमेरिका में जाकर हिंदुस्थान के धर्म का डंका बजाने वाला अब इस संसार में नहीं है! भारत का धर्मप्रदीप बुझ गया! आर्यभूमि का एक सच्चा सन्यासी समाधिस्थ हो गया! हिन्दुस्थान की गिरती दशा में जिसने अपने भाइयों को नींद से जगाकर सचेत किया वह अवतारी पुरुष धर्म के आकाश में दैदीप्यमान तारे की नाईं एकबार चमक कर गुप्त हो गया! श्री रामकृष्ण परमहंस का एकमात्र दिग्विजयी शिष्य अपने गुरू की आज्ञानुसार पृथ्वी पर हिंदूधर्म का महत्व स्थापित कर निर्वाण पद को प्राप्त हुआ! मुमुक्षुजनों की धार्मिक पिपासा को बुझाने वाला अमृतस्रोत सूख गया! परमात्मा श्री स्वामी विवेकानंद की आत्मा को चिरकालिक शांति दे यही हमारी प्रार्थना है। हम आशा करते हैं कि समाधिस्थ स्वामी जी के शिष्य और अनुयायी, उनके बोये हुए धर्म के पौधे को नियमानुसार सींचकर हरा भरा रखेंगे जिससे लोगों की स्वधर्म श्रद्धा सदैव जागृत रहै।

* C. F· – "Every Hindu may be proud that the flag of his religion has been planted on the shores of the Pacific. It will remain there for ever." – Preface to the *Life and Work of Swami Vivekanand.*

४. वस्तुत: चार जुलाई को! – सं.

———

श्रीरामकृष्ण की बोध-कथाएँ

(कथाओं व दृष्टान्तों के माध्यम से अपनी बाते समझाने की परम्परा वैदिक काल से ही चली आ रही है। श्रीरामकृष्ण भी अपने उपदेशों के दौरान अनेक कथाएँ सुनाते थे। यत्र-तत्र बिखरी इन मूल्यवान कथाओं को हम यहाँ धारावाहिक रूप से प्रस्तुत कर रहे हैं। – सं.)

– २१ –

बारह सौ मुण्डे और तेरह सौ मुण्डियाँ

नित्यानन्द गोस्वामी के पुत्र थे वीरभद्र। उनके तेरह सौ सिरमुड़े शिष्य थे। गुरु के मार्ग-दर्शन में साधना करके जब वे सभी सिद्ध हो गए, तो वीरभद्र डरे। उन्होंने सोचा – ये सब तो सिद्ध हो गए, अब ये लोगों को जो कह देंगे वही फलित होगा; जिधर से निकलेंगे वहीं भय है, क्योंकि लोग यदि अनजाने में कोई अपराध कर बैठें, तो उनका अहित होगा। आखिरकार उन्हें एक उपाय सूझा। उन्होंने अपने उन तेरह सौ शिष्यों को बुलाकर कहा, "तुम सभी गंगातट पर जाकर संध्या-उपासना करके हमारे पास आओ।"

ब्रह्मचर्य आदि यम-नियमों के पालन से उन शिष्यों में ऐसा तेज आ गया था कि ध्यान में बैठते ही वे सभी समाधिमग्न हो गए। कब ज्वार का पानी सिर से बह गया, इसकी उन्हें खबर ही नहीं। भाटा हो गया, तथापि उनका ध्यान नहीं टूटा। उन तेरह सौ शिष्यों में से एक सौ ज्यादा बुद्धिमान थे। वे समझ गये थे कि वीरभद्र क्या कहेंगे। आचार्य की बात को टाला नहीं जा सकता, अत: वे वहीं से खिसक गए, वीरभद्र से मिलने नहीं आये। बचे हुए बारह सौ शिष्य वीरभद्र के पास लौटकर आए।

वीरभद्र बोले, "मेरी ये तेरह सौ शिष्याएँ तुम्हारी सेवा करेंगी, तुम लोग इनसे विवाह करो।" शिष्यों ने कहा, "आपकी जैसी आज्ञा; परन्तु हममें से एक सौ न जाने कहाँ चले गए।" उन बारह सौ शिष्यों में से प्रत्येक के साथ एक एक सेवादासी रहने लगी। फिर धीरे धीरे उनका सारा तेज और तपस्या-बल चला गया। स्त्री के साथ रहने से उनका बल जाता रहा, क्योंकि उसके साथ स्वाधीनता नहीं रह जाती। लेकिन जो सौ शिष्य खिसक गये थे, वे बच गये।

जयपुर में गोविन्द जी के पुजारी पहले-पहल विवाह नहीं करते थे। तब वे बड़े तेजस्वी थे। एक बार राजा के बुलाने पर भी वे नहीं गए, बोले – "राजा ही को आने को कहो।" फिर राजा और उनके मंत्रियों ने मिलकर उनका विवाह करा दिया। उसके बाद से कभी राजा से साक्षात् करने के लिए उनमें से किसी को बुलाना नहीं पड़ा! वे खुद ही हाजिर हो जाते थे। कहते – "महाराज, आशीर्वाद देने आए हैं, निर्माल्य लाए हैं, धारण कीजिये।" ऐसे कितने ही मौके निकाल कर अब वे लोग प्राय: ही आने लगे। वे लोग ऐसा करने को विवश थे; क्योंकि आज घर की दीवार खड़ी करनी है, तो कल बच्चे का अन्न-प्राशन है और परसों उसका विद्यारम्भ करना है। और इन सब के लिए पैसा चाहिए!

कामिनी-कांचन जीव को बाँध लेते हैं। जीव की स्वाधीनता चली जाती है। कामिनी से ही कांचन की जरूरत होती है, जिसके लिए दूसरों की गुलामी की जाती है; फिर स्वाधीनता नहीं रहती, फिर तुम अपने मन का काम नहीं कर सकते।

इतनी परीक्षाएँ पास करनेवाले, इतनी अंग्रेजी जाननेवाले विद्वान् भी नौकरी करते हुए सुबह-शाम मालिकों के बूट की ठोकरें खाते हैं। इतना अपमान, दासत्व की यह यातना क्यों सहनी पड़ती है? इसका कारण केवल 'कामिनी' है। विवाह करके यह हरी-भरी दुनिया उजाड़ने की इच्छा नहीं होती।

– २२ –

संशयात्मा विनश्यति

त्रेता युग की बात है। श्रीराम के हाथों परास्त होकर राक्षसराज रावण काल के गाल में समा चुका था। भगवान ने विभीषण का राज्याभिषेक करके उन्हें लंका ले सिंहासन पर बैठाने का निश्चय किया। परन्तु विभीषण ने राजा होने से इनकार कर दिया, बोले, "प्रभो, आपको पा लेने के बाद अब राज्य से क्या काम?" श्रीराम ने कहा, "विभीषण, तुम मूर्खों के लिए राजा बनो। जो लोग कह रहे हैं, 'तुमने राम की इतनी सेवा की, परन्तु तुम्हें क्या मिला?' – उनकी शिक्षा के लिए तुम राजा बनो।"

इस प्रकार विभीषण लंका के राजा बन चुके थे। असुरों, वानरों तथा भालुओं के बीच मैत्री स्थापित हो चुकी थी। इसलिए असुरगण समुद्र मार्ग से लंका से आकर भारत की सीमा में भी बेखटक विचरण किया करते थे।

एक बार कुछ राक्षसों ने एक मनुष्य को वन में भटकते देखा। वे वानरों तथा ऋक्षों से तो परिचित थे, परन्तु मनुष्य-जाति के सदस्य को उन्होंने कभी देखा नहीं था। मनुष्य का सुन्दर, सुडौल तथा कोमल शरीर देखकर राक्षसों के मुँह में पानी भर आया। उन्होंने तुरन्त दौड़कर उस मानव को पकड़ लिया। वे लोग उसे भूनकर व्यंजन बनाने की तैयारी कर ही रहे थे, तभी एक वृद्ध राक्षस ने कहा, "देखो, जहाँ तक मुझे याद आता है, यह आदमी श्रीराम के कुल का प्रतीत होता है।

अनेकों वर्ष पहले जब राम-रावण-युद्ध हुआ, उस समय मैं युवक था और महाराज रावण की ओर से लड़ा भी था। उस समय मुझे श्रीराम तथा उनके भाई की कई बार झलक मिली थी। यह व्यक्ति भी मुझे उन्हीं के जैसा दिखता है। अत: सम्भव है कि यह उन्हीं का वंशज हो। अगर हम इसे मारकर खा गये और बाद में महाराज विभीषण को पता चला, तब तो बड़ा अनर्थ हो जायेगा। वे निश्चय ही हमें कठोर दण्ड देंगे। अत: मेरी तो राय है कि हम इसे पकड़कर महाराज के पास ही ले चलें। वे जैसा उचित समझें, करें।''

बाकी राक्षसों ने उस वृद्ध की बात मान ली और उस मनुष्य को बाँधकर वे लोग लंका ले गये। बन्दी को महाराजा विभीषण के सम्मुख पेश किया गया। उसे देखते ही विभीषण ने उसके सारे बन्धन खोल देने का आदेश दिया और दौड़कर उसे गले से लगा लिया, कहने लगे – ''अहा ! मेरे रामचन्द्र-जैसी इसकी मूर्ति है। वही नर-रूप !'' यह कहकर वे आनन्द मनाने लगे। फिर उस आदमी को तरह तरह के कपड़े पहनाकर उसकी पूजा-आरती की !

आदमी तो अपने भाग्य में बदलाव देखकर हक्का-बक्का रह गया। इसके बाद उसे लंका में ही राज-अतिथि बनाकर रखा गया। वहाँ की आवभगत में वह अपने घर-परिवार, सगे-सम्बन्धियों आदि की सारी बातें भूल गया। विभीषण प्रतिदिन आकर उससे मिलते और राम-लक्ष्मण आदि की चर्चा करते हुए प्रेमाश्रु बहाते।

इसी प्रकार बहुत दिन बीतने के बाद उस मनुष्य को वापस घर लौटने की इच्छा हुई। उसने महाराज विभीषण से विदा माँगी। विभीषण ने पहले तो उसे रोकने का प्रयास किया, परन्तु जब देखा कि वह अपने बाल-बच्चों से मिलने के लिए बड़ा आतुर हो रहा है, तो उन्होंने उसके लिए एक विदाई-समारोह का आयोजन किया, जिसमें उसे हीरे-जवाहरात आदि अनेक बहुमूल्य वस्तुएँ भेंट की गईं। इसके बाद महाराजा विभीषण स्वयं ही उसे समुद्र-तट पर छोड़ने आये।

लंका में उन दिनों नौका आदि का प्रचलन नहीं था, क्योंकि राक्षणगण तो आकाश-मार्ग से ही विचरण किया करते थे। अत: प्रश्न उठा कि उस मनुष्य को भारतखण्ड भेजने के लिए समुद्र कैसे पार कराया जाय !

राजा विभीषण ने उस मनुष्य से कहा, ''देखिए, मैं आपको एक मंत्र लिखकर दे देता हूँ। उसे अपने वस्त्र के छोर में बाँध लें। इससे आप समुद्र के जल पर चल सकेंगे। मंत्र की शक्ति से आप पैदल ही उस पार जा सकेंगे और मार्ग में कोई आपका अनिष्ट भी नहीं कर सकेगा। आप निर्विघ्न अपने घर पहुँच जायेंगे।'' वापस लौटने का और कोई सहज उपाय न देखकर आदमी ने उनकी बात मान ली।

विभीषण ने एक पत्ते पर कुछ लिखकर उसके कपड़े के छोर में बाँध दिया और बोले, ''अब तुम्हें कोई भय नहीं है, विश्वास करके पानी के ऊपर से चले जाओ, किन्तु यदि तुम्हें अविश्वास हुआ, तो तुम डूब जाओगे।''

उस व्यक्ति ने समुद्र के जल पर पाँव रखा और यह देखकर विस्मित रह गया कि वह डूब नहीं रहा है। वह बड़े मजे में समुद्र के ऊपर से चलने लगा। जल पर चलते हुए जब तक वह आँखों से ओझल नहीं हो गया, तब तक विभीषण टकटकी लगाए उसी की ओर देखते रहे। इसके बाद उदास मन से अपने परम प्रिय श्रीराम का स्मरण करते हुए अपने महल में लौट आये।

उधर मनुष्य बड़े मजे से पानी पर चलते हुए पृथ्वी की ओर चला जा रहा था। सहसा उसके मन में यह जानने की बड़ी तीव्र उत्सुकता हुई कि आखिर यह कौन-सा महामंत्र है, जिसके प्रभाव से मैं इस प्रकार निर्भय निश्शंक समुद्र के जल पर चल पा रहा हूँ?

कितना भी प्रयास करके वह अपनी उत्सुकता को दबाने में सक्षम न हो सका। उसने सोचा कि थोड़ा देख ही लूँ कि उन्होंने उस पत्ते पर ऐसा क्या लिख दिया है !

उसने अपने वस्त्र के छोर से उस पत्ते को खोला और देखकर आश्चर्यचकित रह गया। उस पर तो बस – 'राम' – इतना ही लिखा हुआ था। उसका मन संशय से परिपूर्ण हो उठा। भला इन दो अक्षरों में क्या शक्ति हो सकती है !

उसके मन में ज्योंही अविश्वास उत्पन्न हुआ कि उसके पाँव समुद्र के जल में धँसने लगे और देखते-ही-देखते वह सागर की अतल गहराइयों में डूब गया।

विश्वास में ऐसा ही बल है। कहते हैं कि हनुमान जी रामनाम पर इतना विश्वास था कि उनका नाम लेकर ही वे समुद्र लाँघ गये, परन्तु स्वयं श्रीराम को समुद्र-पार जाने के लिए सेतु बाँधना पड़ा था। व्यक्ति को यदि ईश्वर के नाम में विश्वास हो, तो चाहे कोई पाप या महापाप भी करे, परन्तु उसके लिए भय की कोई बात नहीं।

किसी राजा के हाथ से ब्रह्महत्या हो गई थी। इस पाप के प्रायश्चित्त का विधान पूछने के लिए वे एक ऋषि की कुटिया में गये। ऋषि उस समय स्नान करने को गए हुए थे। उनका पुत्र कुटिया में था, उसने राजा की बात सुनकर कहा, ''तीन बार रामनाम लेने से तुम्हारा पाप कट जायेगा।'' बाहर से आ रहे ऋषि के कान में यह बात पड़ने पर वे अपने पुत्र पर बड़े नाराज हुए और बोले, ''जिस रामनाम का एक बार उच्चारण करने से कोटि जन्मों के पाप कट जाते हैं, तूने राजा से वह रामनाम तीन बार लेने को क्यों कहा? तू चण्डाल बन जा।'' यही ऋषिपुत्र बाद में रामायण का गुहक चण्डाल बना। ❑

मुण्डक उपनिषद : एक चिन्तन (३/३)

स्वामी सत्यरूपानन्द

(कोलकाता के भारतीय संस्कृति संसद में विगत २४ से २६ जून के दौरान हुए तीन व्याख्यानो का अनुलिखन)

इसलिए परीक्ष्य लोकान् – साधक और साधिका को सदैव इस लोक की परीक्षा करनी चाहिए। घर छोड़कर जाने की आवश्यकता नहीं। परीक्षा करके धीरे धीरे मन को संस्कारित करके आसक्ति छोड़नी चाहिए। यह आज है, कल नहीं रहने वाला है। जैसा है, वैसा नहीं रहने वाला है। रहेगा भी, तो किसी काम का नहीं रहेगा। शरीर अयोग्य हो जाने पर किस काम का रह जाएगा। मान लीजिए भगवान ने आपको सम्पन्न बनाया है। आपने अपनी पुत्री को, पत्नी को ५० किलो सोने के जेवर हीरा-मोती सब लगाकर दे दिया और उनसे कहा कि ये ५० किलो के जेवर रोज पहन कर चलिए, तो पत्नी कहेंगी, नमस्कार, मैं डाइवर्स ले लूँगी, पर आपके ५० किलो के इन जेवरों को पहन कर नहीं चलूँगी। इसलिए परीक्ष्य लोकान् – उसकी परीक्षा करो। जो हमारे लिए हानिकारक है, उस पर विचार करे और निर्वेदमायात् – वैराग्यवान बने। वस्तु की उपयोगिता की सीमा समझें।

दूसरी बात, न अस्ति अकृत: कृतेन – ईश्वर किसी क्रिया से प्राप्त नहीं हो सकता। इष्टापूर्ति यज्ञादि जो भी करो, किन्तु उससे ब्रह्म की प्राप्ति नही होगी, अज्ञान दूर नहीं होगा। ज्ञान किसी क्रिया का परिणाम नहीं है। ज्ञान अज्ञान की निवृत्ति का परिणाम है। अन्धेरा था, प्रकाश आया, तो अन्धकार मिट गया। ऋषि कहते है कि जो अकृत है, अर्थात् ब्रह्म है, ईश्वर है, जिसको किसी ने बनाया नहीं है। जिसे बनाया गया है, जैसे – लाउड स्पीकर, हम लोग, ये सब कृत हैं। अकृत केवल ब्रह्म, वही परमात्मा है। यह जो अकृत परमात्मा है सदैव शाश्वत है। अकृतेन लभ्य: – यह कर्म के द्वारा प्राप्त नही हो सकता है। किसी क्रिया से, नाक दबाकर, कान दबा कर, बदरी-केदार जाकर, मान-सरोवर जाकर, कुछ करने से भगवान नही मिलने वाला है। इस ब्रह्म की अनुभूति कैसे होगी? अविद्या को छोड़ने से होगी। अविद्या को दूर कैसे करें? यह ऐसा नहीं है कि घर बैठे बिना शिक्षक के संस्कृत पढ़ लिया। बिना स्कूल में भर्ती हुए बिजनेस मैनेजमैंट की पुस्तक पढ़ ली। आप यह कर सकते हैं। लेकिन ऋषि अंगिरा स्पष्ट यहाँ कह रहे हैं कि शौनक! वह ब्रह्म, जो तुम्हारा स्वरूप है, जिसको जानने के बाद तुम आनन्द से परिपूर्ण हो जाओगे, तुम्हारे दु:खों की आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाएगी और परम आनन्द पाओगे। तद् विज्ञानार्थ – उसको जानने के लिए, स: – वह साधक, गुरूम् एव अभिगच्छेत् – गुरु के पास जाओ। कैसे जाओ? समित्पाणि: – उस जमाने में परम्परा थी गुरु के पास यज्ञ की लकड़ी लेकर जाते थे। वह नम्रता का प्रतीक था। उसी प्रकार अभी भी हमारे हिन्दुओं में वह परम्परा है। लोग साधुओं के पास या मन्दिर मे खाली हाथ नहीं जाते। आप एक फूल लेकर जाते हैं, कुछ प्रणामी देते हैं, उसका यही तात्पर्य है। कैसे गुरु के पास जाना चाहिए? **श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्** – जो सचमुच शास्त्र में पारंगत हों तथा जिन्होंने ब्रह्म का अनुभव किया है, ऐसे गुरु के पास जाना चाहिए। गीता में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं – **तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया** (गीता-४/३४) – अर्थात् प्रणाम, सेवा और जिज्ञासा के द्वारा इस तत्त्व को जानना चाहिए। गुरु के पास जाकर उनसे श्रद्धा पूर्वक पूछना चाहिए। तब गुरु कृपा पूर्वक ज्ञान को बताएँगे।

अब द्वितीय मुण्डक में एक और उदाहरण हम देख रहे हैं। प्रथम मुण्डक में हमलोगों ने मकड़ी का उदाहरण देखा था। जैसे मकड़ी अपने मुँह से जाला निकालती है और ग्रहण कर लेती है। यहाँ अग्नि का उदाहरण दिया गया है –

तद् एतत् सत्यं यथा सुदीप्तात् पावकात्
विस्फुलिङ्गा: सहस्त्रश: प्रभवन्ते सरूपा: ।
तथा अक्षराद् विविधा: सोम्य भावा:
प्रजायन्ते तत्र च एव अपियन्ति ।। (मु. २/१/१)

– हे शौनक! सुनो, यह सत्य है। क्या सत्य है? जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि से उसी के समान हजारों चिनगारियाँ निकलती हैं तथा विलीन हो जाती हैं, उसी प्रकार उस ब्रह्म से, उस चैतन्य से यह सारा संसार प्रगट हुआ है और उसी में विलीन हो जाता है। यह संसार उसी ब्रह्म का अंश है – **ईश्वर अंस जीव अबिनासी**। उसी ब्रह्म से हम सभी प्रकट हुए हैं। इतना ही नहीं, घर-द्वार, संसार जो कुछ भी है सब कुछ, उसी परमात्मा से ही निकला हुआ है। अब साधना की दृष्टि से आप विचार करके देखें। मैंने पहले दिन आपसे निवेदन किया था कि सारी चर्चा का प्रयोजन है, हमारी चेतना में परिवर्तन आए। अगर भगवान की कृपा से, गुरु की कृपा से, हमारे मन में ये बात बार बार आती रहे कि जो कुछ है, सब वही ईश्वर हैं, ब्रह्म हैं या हमारे इष्ट हैं, तो हमारी चेतना में परिवर्तन आएगा। कहाँ द्वेष रहेगा? कहाँ राग रहेगा? जिसके प्रति हमारी शत्रुता है, यदि हमारे मन में यह भाव आ जाय कि उसी ब्रह्म से जहाँ से मेरा जन्म हुआ है, इनका भी जन्म हुआ है, जो चैतन्य मेरे भीतर है, वही चैतन्य इनके भीतर भी है, तो कहाँ शत्रुता रह जाएगी? यह कठिन है, पर असम्भव नहीं है।

साधना की दृष्टि से बहुत सहायक है। एक जगह बैठकर विचार करने की जरूरत नहीं, जब जहाँ हैं, जैसे हैं, खाते-पीते, सोते-बैठते, यदि इस मंत्र के शब्द न याद रहें, पर इसका भाव अपनी भाषा में याद रखें और इसका विचार करते रहें – जैसे आग से चिनगारी निकलती है, वैसे ही परमात्मा से यह सब निकला है। तो पत्नी भी परमात्मा, पति भी परमात्मा, बच्चे भी परमात्मा, सास-ससुर और संबन्धी भी परमात्मा, सब कुछ परमात्मा ही है। अगर ऐसा भाव आता रहे तो जीवन में बहुत बड़ा परिवर्तन आएगा। जिस परम पुरुष से यह जगत् उत्पन्न हुआ है, वह कैसा है? –

दिव्यः हि अमूर्तः पुरुषः स बाह्य अभ्यन्तरे हि अजः ।
अप्राणः हि अमनाः शुभ्रो हि अक्षरात् परतः परः ।।
(मु. २/१/२)

– वह पुरुष दिव्य है। वह आकाररहित, समस्त जगत् के बाहर-भीतर व्याप्त है। वह जन्मादि विकारों से रहित, प्राण-मन रहित सर्वथा विशुद्ध है। इसलिए वह सर्वशक्तिमान परमेश्वर अविनाशी जीवात्मा से अत्यन्त श्रेष्ठ है।

यहाँ हमें ध्यान रखना है कि अद्वैत की ठीक साधना नहीं होने के कारण कई बार हमारे मन में आता है कि शरीर दिव्य हो जाय। दिव्यता शरीर में नहीं, दृष्टि में होती है। गीता में भगवान अर्जुन से कहते हैं – **दिव्यं ददामि ते चक्षुः** (गीता-११/८) – मैं तुम्हें दिव्य चक्षु दे रहा हूँ। वह परमात्म, ब्रह्म दिव्य है। अगर हमारी दृष्टि बदल जाय तो क्या होगा? भगवान वेदव्यास ने संजय को दिव्य दृष्टि दी। उससे संजय ने सब देख और जान लिया। गुरु की कृपा से, साधना से अगर व्यक्ति को दिव्य दृष्टि प्राप्त हो जाय, तो इसी क्षण यह संसार ब्रह्म के रूप में प्रतिभासित होने लगेगा। यह संसार हमारा इष्ट है, परमात्मा है, ऐसा लगने लगेगा। आज हमें बुद्धि से ऐसा लगता है, किन्तु, इसका अनुभव हमें नहीं है। वे लोग भी सौभाग्यशाली हैं, जिन्हें बुद्धि से भी ऐसा लगता है। बुद्धि से ऐसा लगते लगते एक ऐसा अवसर जीवन में आ सकता है, जब क्षण भर में मन उस तत्त्व का अनुभव कर ले। तब तत्काल जीवन बदल जाएगा। यदि उसकी एक झलक भी दिख जाय, थोड़ी-सी, पूर्ण ज्ञान की बात मैं नहीं कह रहा हूँ। सामान्य एक झलक भी दिख जाय, तो उस जीवन में बहुत बड़ा परिवर्तन आ जाता है, दृढ़ आस्था आ जाती है। तब ऐसा अनुभव होगा कि यह अनित्य जगत् सदैव हमारा साथ नहीं देगा। वह पुरुष दिव्य अमूर्त है। यदि मूर्त है, तो वह सीमित रहेगा। तब मेरे भगवान और आपके भगवान अलग-अलग हो जाएँगे। मैं आपके भगवान के मन्दिर में नहीं जाऊँगा और आप मेरे भगवान के मन्दिर में नहीं जाएँगे। ऐसा क्यों होता है? अद्वैत की धारणा नहीं होने के कारण ऐसा होता है। किन्तु अमूर्त कृष्ण में भी है और काली में भी। क्योंकि अमूर्त असीम है। कैसे परिवर्तन घटता है मैं आपसे रायपुर आश्रम की एक घटना बता रहा हूँ। कुछ वर्ष पूर्व हमारे आश्रम के सामने एक चित्रकार रहता था। वह तैल चित्र बनाता था। उसने कहा कि महाराज, मैं स्वामी विवेकानन्द की एक दस फुट बड़ी फोटो बनाना चाहता हूँ। आप लोग आश्रम में इतना उत्सव करते हैं, उसमें काम आएगा। मैंने कहा, बना बेटा, अच्छी बात है। वह बहुत सुन्दर स्वामीजी का चित्र बना रहा था। संयोग की बात है, वहीं काली बाड़ी के लोगों ने माँ काली का एक चित्र बनाने का आदेश दिया था। हमारे आश्रम में गुजरात के कुछ भक्त आए हुए थे। गुजराती भाई लोग थे। रायपुर आश्रम में जनवरी में उत्सव होता है। उनमें ५-६ माताएँ थीं, ५-६ बच्चे और पुरुष थे, ऐसे १०-१२ लोग थे। मैं एक दिन सुबह स्वामी विवेकानन्द के चित्र को देखने चित्रकार के स्टूडियो में जा रहा था। इन गुजरात के भक्तों ने कहा – महाराज, हम भी चलेंगे। मैंने कहा, चलिए। जहाँ वह चित्र बना रहा था, उसमें दो कमरे थे। एक कमरे में वह चित्र का प्रारम्भिक रूप बनाता था तथा दूसरे कमरे में ले जाकर उसकी फिनीसींग आदि करता था। उसने स्वामी जी का चित्र बनाकर पीछे के कमरे में ही रख दिया था। जब हम पहुँचे तो प्रवेश वाले कमरे में माँ काली का चित्र बनाकर रखा था। वैसे पूर्वाश्रम में मैं शाक्त परिवार का था। मुझे माँ काली के प्रति स्वाभाविक आकर्षण है। वह चित्र जिसमें माँ काली मुंडमाल पहने, कटि में मनुष्य के कटे हुए हाथों की करघनी, एक हाथ में कटा सिर जिससे रक्त टपक रहा हो, दूसरे हाथ में खड्ग, तीसरे हाथ में खप्पर और चौथा हाथ अभय मुद्रा। इस चित्र को देखकर कुछ लोगों को घृणा होती है और भयभीत हो जाते हैं, किन्तु माँ की वह मूर्ति देखकर हमें बहुत आनन्द होता है। वह बहुत ही सुन्दर, विशाल मानवाकार माँ काली का चित्र था। माँ जीवंत लगती थीं। रक्त सचमुच लगे कि रक्त टपक रहा है। मुझे ज्ञात नहीं था कि वहाँ माँ का चित्र भी रखा है। हम वहाँ गए। बच्चे जोर जोर से चिल्लाकर रोने लगे। महिला एकदम घबड़ा गयीं। मैं हड़बड़ाया कि प्रभु, क्या हो गया! मेरे एक मित्र थे तिवारी जी, जो उनलोगों के शिक्षक थे। उन्होंने कहा, महाराज चलिए। तुरन्त किसी तरह क्षण भर के भीतर बच्चों को हटाया, महिलाओं को हटाया। वे हाँफने लगीं, डरने लगीं, रोने लगीं। ऐसी गड़बड़ी हो गयी। स्वामीजी को देखना तो एक तरफ रहा, किसी तरह उनको आश्रम में लौटाकर लाया। बेचारे को बहुत समझाया कि क्या हो गया! उन लोगों ने कभी काली का वैसा चित्र नहीं देखा था। बेचारे वैष्णव लोग थे। बाल गोपाल की अष्ट प्रहर सेवा करने वाले लोग थे। गोपाल को मक्खन-मिसरी खिलाने वाले भक्त थे। यह सब देखकर बिचारी इतनी दु:खी हुईं कि ८ दिन रुकने के लिए आयी थीं, तीसरे दिन ही एमरजेन्सी टिकट कटा कर

वापस चली गईं। क्यों दृष्टि विशाल नहीं हो पाती? बौद्धिक रूप से दृष्टि अगर विशाल हो जाय कि भाई ठीक है विकराल रूप हमको पसन्द नहीं है, पर है तो वह उसी ब्रह्म का रूप। ऐसी दृष्टि होनी चाहिए। थोड़ी सी बात आपको और सुनाऊँ, क्योंकि समय हो गया है, तो भी सुनाने का लोभ संवरण नहीं कर पा रहा हूँ। आप सब लोगों ने प्राय: सुना होगा। दूसरे खण्ड के दूसरे अध्याय के बहुत से मन्त्रों को छोड़कर, यह तीसरे खण्ड के प्रथम अध्याय का प्रथम मन्त्र है –

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयो अन्य: पिप्पलं स्वादु अत्ति
अन्य: अनश्नन् अभिचाकशीति ।।

यह इतना सुन्दर मन्त्र है। इस मन्त्र पर विचार करना चाहिए, ध्यान करना चाहिए। ऋषि अंगिरा शौनक को बता रहे हैं। हे शौनक सुनो! एक वृक्ष है। जिस पर दो पक्षी बैठे हैं। वे एक ही तरह के पंख वाले और देखने में एक ही समान हैं। उस एक ही वृक्ष पर बैठे हुए हैं। पर उनमें से एक उस वृक्ष के कड़ुवे-मीठे फल को खाता है। कड़ुवे से मुँह बिगड़ता है। कड़ुवे-मीठे फल खाकर वह सुख-दु:ख में डूबता-उतराता रहता है। मीठा फल चखा तो बड़ा आनन्द आया, कड़ुवा चखा तो मुँह बिगड़ गया। दूसरा एकदम उदासीन होकर उसको केवल देखता रहता है –

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नो
अनीशया शोचति मुह्यमान: ।
जुष्टं यदा पश्यति अन्यम् ईशं
अस्य महिमानं इति वीतशोक: ।। (मु. ३/१/२)

– उस एक ही वृक्ष पर दो पक्षी हैं जीवात्मा और परमात्मा। जीवात्मा फल खाने में डूब गया है, इसीलिए मुह्यमान: – मोहित होकर दु:खी है। क्यों? अनीशया – क्योंकि उसका अपने आप में संयम नहीं है, आत्मसंयम नहीं है। अपने ऊपर अधिकार नहीं है। संस्कृत में ईशण शासन करने को कहते हैं। अनीशया – संयम नहीं कर पाता, नियंत्रण नहीं कर पाता। वह अपने को उस कड़ुवे-मीठे फल को खाने से रोक नहीं पाता है। न रोक सकने के कारण शोचयति – वह दु:ख में डूबा हुआ है। जुष्टं यदा पश्यति ईशं अस्य महिमानं इति वीतशोक: – फिर वह देखता है कि दूसरे पक्षी की सभी लोग पूजा कर रहे हैं। उसकी प्रशंसा कर रहे हैं। कौन ये व्यक्ति हैं? वह तो मेरा भाई जैसा, बिल्कुल मेरे समान ही है। पर, वह इसका फल नहीं खाता है। वह आत्मसंयमी है। मेरे समान परवश नहीं है। अपने शरीर-मन-इन्द्रियाँ आदि पर उसका अधिकार है। ऐसी उसकी महिमा है और जब जीव उसकी महिमा को देखता है, यहाँ देखने का तात्पर्य अनुभव करना है, तब वीतशोक: – उसका शोक दूर हो जाता है। वह शोक से मुक्त हो जाता है।

इससे क्या होगा? पुन: ऋषि कह रहे हैं –

यदा पश्य: पश्यते रुक्मवर्णं
कर्तारम् ईशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम् ।
तदा विद्वान् पुण्य-पापे विधूय
निरञ्जन: परमं साम्यम् उपैति ।। (मु. ३/१/३)

– गीता का समत्व योग इसी उपनिषद् से लिया गया है – **समत्वं योग उच्यते** (गीता-२/४८)। ऋषि यह नहीं कहते हैं कि तुम ध्रुव के समान राजा हो जाओगे।

ऋषि यह कह रहे हैं कि पश्य: – देखने वाला, जो द्रष्टा है, यदा पश्य: पश्यते – जब वह द्रष्टा, रुक्मवर्णं – सोने के समान अर्थात् दिव्य प्रकाश स्वरूप, पुरुषं कर्तारम् – वह पुरुष जो समस्त सृष्टि का कर्ता है। उसी ने इस समस्त सृष्टि को बनाया है। और ईशं केवल कर्ता नहीं है, वह शासक भी है। इसका स्वामी है। वही पुरुष, ब्रह्मयोनिम् – जिससे ब्रह्मा भी उत्पन्न हुए हैं, जो किसी से उत्पन्न नहीं हुआ है, स्वयंभू है। सृष्टि के प्रारम्भ में ब्रह्मा भी जिससे उत्पन्न हुए। जो इस सृष्टि का रचयिता है। आदित्यवर्णं तमस: परस्तात् – ऐसे प्रकाशमान पुरुष को जब देख लेता है, तब जो अब तक अविद्वान था, वह विद्वान हो जाता है। जब उसने अनुभव कर लिया कि 'मैं वही पुरुष हूँ', तब वह पुण्य-पापे विधूय – पुण्य और पाप दोनों से मुक्त हो जाता है, दोनों को धोकर साफ कर देता है। निरंजन: – वह निरंजन, अंजनरहित, दोषरहित, हो जाता है। उसकी चेतना में विकार नहीं रहता है। परमं साम्यं उपैति – हे शौनक! उसे परम समता की प्राप्ति हो जाती है। फिर उसको बाहर-भीतर की कोई भी प्रकृति विचलित नहीं कर सकती है। संसार के सुख-दु:खों से ऊपर उठकर इसी जीवन में वह परम सुख की प्राप्ति करता है। किन्तु, हम ऐसा क्यों नहीं कर पाते हैं? इसके उत्तर में ऋषि अंगिरा कहते हैं –

प्राणो हि एष: य: सर्वभूतै: विभाति
विजानन् विद्वान् भवते नातिवादी ।
आत्मक्रीड: आत्मरति: क्रियावान्
एष: ब्रह्मविदां वरीष्ठ: ।। (मु. ३/१/४)

– हे शौनक सुनो! यह प्राण जो तुम देख रहे हो, श्वाँस-पर-श्वाँस चल रहा है या पृथ्वी पर जितने भी प्राणी हैं, इनमें यह ब्रह्म प्राण के रूप में अवस्थित है। उस पर विचार करो। सोचो, प्राण ही ब्रह्म है। तुम्हारे भीतर जो प्राण-तत्त्व कार्य कर रहा है तथा जिस प्राण की शक्ति से मैं कार्य कर रहा हूँ, वही प्राण की शक्ति है। ऐसी जो प्राण की शक्ति है, सभी भूतों में है। इसको जानने वाला विद्वान् भवते नातिवादी – नम्र होता है, वह बढ़-चढ़कर बातें नहीं करता है। ऐसा ब्रह्मवेत्तागण कहते हैं – ते ब्रह्मविद: वदन्ति। अंगिरा ऋषि यह नहीं कहते

कि मैं बोल रहा हूँ। वे कहते हैं कि मेरे पूर्व के ऋषियों ने ऐसी बातें बताई हैं। जो विद्वान् है, वह नातिवादी – कभी आत्म-प्रशंसा नहीं करता। वह अपनी बात अत्यन्त नम्रता से कहता है। आत्मक्रीड: – वह अपने आप में ही मन बहलाता है। आत्मरति: – अपने आप में ही मग्न रहता है। क्रियावान् – वह क्रियाशील होता है। उसने जान लिया है कि सभी कुछ ब्रह्म है। अत: वह इस ब्रह्माण्ड की सेवा में समर्पित हो जाता है। क्योंकि सारा जगत् वह ब्रह्म ही है। उसी की मैं उपासना कर रहा हूँ। पति ब्रह्म, पत्नी ब्रह्म, बच्चे ब्रह्म, दु:खी-रोगी सब कुछ ब्रह्म है। हे शौनक! जिसने उस ब्रह्म का अनुभव कर लिया, वही ब्रह्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ होता है, ब्रह्मज्ञानियों में श्रेष्ठ होता है। इसके बाद दो बहुत प्रसिद्ध मन्त्र हैं –

सत्येन लभ्य: तपसा हि एष आत्मा
सम्यग् ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम् ।
अन्त: शरीरे ज्योतिर्मय: हि शुभ्र:
यं पश्यन्ति यतय: क्षीणदोषा: ।। (मु. ३/१/५)

– इस शरीर के भीतर ही हृदय में वह ज्योतिर्मय, परम शुद्ध परमात्मा विराजमान है। नि:सन्देह सत्य-आचरण के द्वारा ब्रह्मचर्य पूर्वक, यथार्थ ज्ञान से ही वह सदा प्राप्त होता है। सब प्रकार के दोषों से रहित यत्नशील साधक ही उसे देख पाते हैं, उसका अनुभव कर पाते हैं।

सत्यम् एव जयते न अनृतं
सत्येन पन्था विततो देवयान: ।
येन आक्रमन्ति ऋषय: हि आप्तकामा
यत्र तत् सत्यस्य परमं निधानम्।। (मु. ३/१/६)

– सत्य की ही विजय होती है, असत्य की नहीं। क्योंकि वह देवयान नामक मार्ग सत्य से परिपूर्ण है। जिससे पूर्णकाम ऋषि लोग गमन करते हैं। जहाँ उस सत्यस्वरूप परब्रह्म परमात्मा का उत्कृष्ट धाम है।

ऋषि कहते हैं कि हे शौनक! सत्य ही विजयी होता है। असत्य कभी विजयी नहीं होता। क्योंकि सत्य का यह पथ सत्य से परिपूर्ण है। किन्तु यह ध्यान रखना होगा कि केवल बोलने से, प्रवचन करने से आत्मज्ञान नहीं हो जाता है –

न अयं आत्मा प्रवचनेन लभ्य:
न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यम् एव एष वृणुते तेन लभ्य:
तस्य एष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्।। (मु. ३/२/३)

– यह परमात्मा न प्रवचन से, न बुद्धि से और न बहुत सुनने से ही प्राप्त हो सकता है। यह जिसको स्वीकार कर लेता है, उसी के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। क्योंकि यह परमात्मा उसके समक्ष अपने स्वरूप को प्रकट कर देता है।

हे शौनक, यह आत्मा कृपापूर्वक जिसका वरण कर लेता है। यह ईश्वर, परमात्मा, ब्रह्म जिस पर कृपा करता है, उसके सामने अपने रूप को प्रगट कर देता है। तुम्हारे प्रवचन, तुम्हारी वक्तृता और विद्वत्ता से यह मिलनेवाला नहीं है।

न अयं आत्मा बलहीनेन लभ्य:
न च प्रमादात् तपस: वा अपि अलिंगात्
एतै: उपायै: यतते य: तु विद्वान्
तस्य एष आत्मा विशते ब्रह्मधाम।। (मु. ३/२/४)

– यह आत्मलाभ दुर्बल व्यक्तियों को प्राप्त नहीं हो सकता। यहाँ दुर्बलता का अर्थ शारीरिक दुर्बलता नहीं है। मानसिक दुर्बलता, दुश्चरित्रता, उपासना का अभाव, आसक्ति – जो संसार में आसक्त है, जिसका मन दुर्बल है, जो संसार छोड़ने से डरता है, जो अनित्य को छोड़ने से डरता है, जिसमें यह साहस नहीं है कि वह स्वीकार कर सके कि एक दिन सब कुछ छूट जाएगा। यह हृदय की दुर्बलता है। सत्य को जो स्वीकार कर लेता है, उसकी वह दुर्बलता दूर हो जाती है। फिर उसका वर्णन है। जैसे सभी नदियाँ समुद्र में जाती हैं, वैसे ही ज्ञानी पुरुष ब्रह्म में विलीन हो जाता है। –

यथा नद्य: स्यन्दमाना: समुद्रे
अस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय ।
तथा विद्वान् नामरूपाद् विमुक्त:
परात्परं पुरुषं उपैति दिव्यम् ।। (मु. ३/२/८)

– जैसे बहती हुई नदियाँ अपने नाम-रूप को छोड़कर समुद्र में विलीन हो जाती हैं, वैसे ही ज्ञानी भी नाम-रूप से रहित होकर सर्वोत्तम दिव्य पुरुष परमात्मा को प्राप्त हो जाता है।

ऐसा कहकर ऋषि फिर उसको आशीर्वाद देते हैं। और फिर वही प्रार्थना है – भद्रंकर्णेभि:... । इसी प्रार्थना के साथ उपनिषद् समाप्त हो जाता है। ॐ

मित्रो! माताओ एवं बहनो, मैं संसद के अधिकारियों एवं आप सभी लोगों को हृदय से धन्यवाद देता हूँ कि आप लोगों ने कृपापूर्वक मुझे अवसर दिया तथा मुंडक उपनिषद् जैसे कठिन विषय पर चर्चा करने की मैने धृष्टता की। मैं यह नहीं कह सकता कि कितनी बात मैं आपलोगों तक पहुँचा सका, पर मैं स्वयं मुंडित मस्तक संन्यासी हूँ, इस मुंडक के चिन्तन का लाभ मुझे मिला और आप लोगों ने इसे धैर्यपूर्वक सुना। कल मैं आपसे निवेदन किया था कि जब रुचि नही होती है और जब हम नहीं समझते हैं, तभी कठिनाई सब जगह होती है। यदि इसमें रुचि आएगी, समझने का प्रयत्न करेंगे, तो यह अवश्य सरल हो जाएगा और उससे हमारा हित होगा। गीता माता भी कहती हैं कि सभी के हृदय में वही परमात्मा विराजमान है। वही परमात्मा आप सभी लोगों के हृदय मे भी विराजमान है। इसलिए आप सबके चरणो में प्रणाम कर अपनी बात समाप्त करता हूँ। धन्यवाद। ❖ **(समाप्त)** ❖

कैसे भूलूँ उनकी करुणा

केशव चन्द्र नाग

माँ श्री सारदा देवी दैवी मातृत्व की जीवन्त विग्रह थी। उनके अनेक शिष्यों तथा भक्तों ने उनकी मधुर-पावन स्मृतियाँ लिपिबद्ध कर रखी हैं। हमारे लिए बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर पदप्रान्ते' से इस लेख का अनुवाद किया है इलाहाबाद की श्रीमती मधूलिका श्रीवास्तव ने। – सं.)

मेरी मँझली भाभी तरुबाला को स्वप्न में माँ से मंत्रदीक्षा मिली। मैंने जब यह बात जीतू दादा (स्वामी विशुद्धानन्द, पूर्वाश्रम में हुगली जिले के हमारे गाँव गुड़ाप में हमारे पड़ोसी – जितेन्द्रनाथ राय) को बतायी, तो वे बोले, "श्रीमाँ उद्बोधन में हैं। तुम्हारी भाभी माँ के पास जाकर उन्हें अपने स्वप्न की बात बताएँ।" १९१६ ई. की बात है। उस समय मेरी उम्र सत्रह-अठारह साल की रही होगी। एक दिन सुबह अपने गाँव गुड़ाप के घर से भाभी को साथ लेकर ट्रेन से कलकत्ता आया। जिस समय मैं उद्बोधन पहुँचा, उस समय दोपहर हो चुका था। घण्टा पड़ गया था और सभी लोग प्रसाद पाने बैठ चुके थे। मैं और मँझली भाभी सारदानन्द जी के कार्यालय में बैठे। इसी बीच किसी ने ऊपर सूचित कर दिया कि दो भक्त आये हैं। ऊपर से उच्च कण्ठ में किसी महिला की आवाज आयी – "कौन है?" सारदानन्द जी ने कहा – "गुड़ाप से एक लड़का और एक महिला आये हैं, माँ को प्रणाम करना चाहते हैं।" बाद में पता चला कि ऊपर से जिन्होंने आवाज दिया था, वे गोलाप-माँ हैं। बाद में मैंने देखा कि गोलाप-माँ जोर की आवाज में, पर योगीन-माँ धीमी आवाज में बोलती हैं। सुना, माँ ने कहा हैं – "पहले वे लोग प्रसाद पा लें। उसके बाद भेंट होगी।" मैंने प्रसाद ग्रहण किया, पर माँ का दर्शन नहीं मिला। मँझली भाभी ने माँ से अपने स्वप्न की बात कही। माँ ने उनकी सारी बात सुनकर उन्हें उसी दिन दीक्षा प्रदान किया। मैंने जीतू दादा को सारी बातें सूचित की। उन्होंने मुझे 'श्रीरामकृष्ण-वचनामृत' ग्रन्थ पढ़ने और ठाकुर को आदर्श मानकर जीवन बिताने का निर्देश दिया।

तत्पश्चात् कई साल बीत गये। कुछ दिनों तक किसनगंज में शिक्षक रहने के बाद बहरमपुर में कृष्णनाथ कॉलेजियेट स्कूल में पढ़ाने का कार्य करता रहा। १९१९ ई. के जनवरी की बात है। किसी कार्यवश कलकत्ते आया। सुना कि माँ उद्बोधन में हैं। तत्काल दर्शन करने जा पहुँचा। इसके पूर्व बलराम-मन्दिर में स्वामी तुरीयानन्द जी से भेंट हुई। मैं बोला – "माँ से दीक्षा लूँगा।" उन्होंने कहा – "बहुत अच्छी बात है। तुम महाभाग्यवान हो।" उद्बोधन में माँ का दर्शन करते ही मैंने उनके समक्ष दीक्षा पाने की आकांक्षा प्रकट की। माँ ने दयापूर्वक महामंत्र प्रदान किया। उन्होंने रुद्राक्ष की एक जपमाला भी दी। माँ ने उस माला पर जप करके मुझे दिया था। एक बार ट्रेन से यात्रा करते समय वह माला खो गयी। परन्तु आश्चर्यजनक रूप से वह माला मुझे फिर से मिल गयी। अस्तु।

१९४२ ई. में मैं भयानक रूप से बीमार पड़ा और अपने गाँव गुड़ाप लौट आया। घर के सभी लोग बड़े चिन्तित हो उठे। गुड़ाप में उन दिनों एक अच्छे डॉक्टर आये हुए थे। उन्होंने ही मेरा इलाज किया, परन्तु कोई लाभ नहीं हुआ। क्रमश: रोग बढ़ने लगा। परिवार के लोग भयभीत हो उठे। बचने की उम्मीद जाती रही। परन्तु चिकित्सा में कुछ उठा नहीं रखा गया। धीरे-धीरे साँस का कष्ट बहुत बढ़ने लगा। डॉक्टर ने कहा – "ऑक्सीजन-सिलिंडर लगेगा। घर का एक आदमी ऑक्सीजन-सिलिंडर लाने वर्धमान गया। उस रात की घटना आज भी मुझे स्पष्ट याद है। कष्ट मानो दुगुना हो गया। लगा कि यह जीवन की आखिरी रात है। घर में किसी की आँखों में नीद नहीं। सहसा मुझे माँ की बात याद आयी। जब माँ अस्वस्थ थीं, तो माँ-काली ने स्वयं उनकी सेवा की थी। मेरे इस संकट के समय माँ क्या मेरी रक्षा नहीं करेंगी? मन में बारम्बार उन्हीं की बात आने लगी। मैं उन्हीं को पुकारने लगा। हाथ-पैर तक हिलाने की क्षमता नहीं थी। मैं केवल रोये जा रहा था। तभी एक घटना घटी। सहसा मैंने स्पष्ट देखा – माँ के समान ही कोई मेरे सिरहाने आकर खड़ी हो गयी। हाँ, ये माँ ही तो हैं। वही मुख, वही नेत्र, वही पतले लाल पाड़ की साड़ी। उनके दोनों नेत्रों से मानो करुणा बरस रही थी। माँ ने मेरे सिर पर हाथ फेर दिया। ओह, वह कैसा सुखद स्पर्श था! मुझे लग रहा था कि मै स्वस्थ हो रहा हूँ, हाथ-पैर हिला सकता हूँ, शायद बोल भी सकता हूँ। माँ ने मुझे एक सफेद गोली खिला दी, जो देखने में काफी-कुछ फिनायल की गोली जैसी थी। गोली ज्यों-ज्यों गले के नीचे उतर रही थी, त्यों-त्यों मुझे लग रहा था कि वह गोली मेरी समस्त बीमारी तथा पीड़ा को समेटती

हुई मानो मेरे शरीर में घुलती जा रही है। उसके बाद मुझे कब नींद आ गई, पता ही नहीं चला। भोर में नींद खुली। लगा कि मेरे शरीर में कोई कष्ट नहीं, कोई पीड़ा नहीं, कोई रोग नहीं। मैं स्वस्थ हूँ – पूर्ण रूप से स्वस्थ हूँ। इतने दिनों बाद स्वयं ही बिस्तर से उठ खड़ा हुआ। मेरा चलना-फिरना देखकर सब लोग अवाक् रह गये। सुबह डॉक्टर आये। मैंने खूब दृढ़तापूर्वक कहा – "डॉक्टर बाबू, मैं स्वस्थ हो गया हूँ। मैं ठीक हो गया हूँ।" डॉक्टर हैरान रह गये। बोले – "भगवान ने ही तुम्हें बचाया है।" ऑक्सीजन-सिलिंडर लौटा दिया गया। मैं क्रमश: स्वस्थ हो गया। केवल स्वस्थ ही नहीं हुआ, मुझे नया जीवन मिला। मेरी जीवनदात्री हैं – माँ।

जब माँ को पहली बार देखा

सरयू राय

दिन-महीना आज मुझे याद नहीं है, अनुमानत: १९१२ ई. का साल हो सकता है। उस समय मेरी उम्र नौ-दस साल थी। तो भी जिस दिन माँ ने अपना स्नेह-स्पर्श देकर कृपा (मंत्र) देकर मुझे धन्य और कृतार्थ किया था, उस पवित्र दिन की बात आज भी मेरे स्मृति-पटल पर देदीप्यमान है।

जिन्होंने बचपन से ही मेरे मन में श्रीरामकृष्ण के प्रति अनुराग जगाया, वे थे मेरे गृहशिक्षक। वे अपनी बातें समझाने हेतु 'उद्‌बोधन' पत्रिका और तब तक छपी श्रीरामकृष्ण-विषयक पुस्तकों की उक्तियों तथा कहानियों की सहायता लेते। न जाने क्यों, सुनने में अच्छा लगता। उन चर्चाओं के कारण उसी उम्र से मैं लिखने-पढ़ने में आकर्षण का बोध करती। इसके पूर्व भी मेरे दादाजी – श्री जगबन्धु सेन को ठाकुर का दर्शन तथा संग पाने का सौभाग्य हुआ था। वे केशव सेन के अनुरागी ब्राह्म-समाजी थे। केशव बाबू के साथ ठाकुर के स्टीमर-भ्रमण के समय भक्तों के साथ मेरे दादा भी गये थे। इसी के प्रभाव से मेरे परिवार का सम्बन्ध श्रीरामकृष्ण से जुड़ गया। मेरी दादी योगमाया देवी को गंगा-स्नान की आदत थी। वे हमारे मायके चाँपातला (सियालदह) से स्नान करने प्राय: ही बागबाजार घाट जातीं। लौटते समय अवसर मिलने पर वे 'उद्‌बोधन' जाकर श्रीमाँ को प्रणाम कर आतीं। बीच बीच में मैं भी उनके साथ जाती, तो भी मेरे छोटे होने के कारण और घर लौटने में देर होगी, इस आशंका से वे मुझे श्रीमाँ के पास नहीं ले जातीं। एक बार मेरे जिद करने पर वे ले जाने को राजी हुईं। वही मेरे जीवन का स्वर्णिम दिन था। आज जीवन-संध्या में उसका स्मरण करते ही मन सजीव हो उठता है, अपूर्व सुखानुभूति से पूर्ण हो उठता है।

उस दिन गंगा-स्नान के बाद मैं अपनी दादी के साथ वहाँ गयी थी। श्रीमाँ बगल के कमरे में बैठी थीं। मैं उन्हें कितनी देर प्रणाम करती रही, याद नहीं। अनजाने ही मेरे आनन्दाश्रु बहने लगे, मुझे पता ही नहीं चला। उस उम्र में उतनी बोध-शक्ति नहीं थी, तो भी न जाने क्यों ऐसा लग रहा था कि ये मेरी खूब परिचित और मेरी सर्वाधिक अपनी हैं। मैं भाव-विभोर हो उठी थी, चेतना लौटते समय समझ में आया, माँ कह रही थीं – "तू रो क्यों रही है ! मैं हूँ न !" और मेरे सिर पर स्नेह-स्पर्श दे रही हैं। सारा शरीर एक अपूर्व आवेश से शीतल हुआ जा रहा था और मैं मानो होश खोती जा रही थी। थोड़ी देर बाद माँ ने ठाकुर का प्रसाद दिया। परिचय जानने के लिए उन्होंने मेरी दादी से पूछा – "यह किसके घर की लड़की है?" सुनने के बाद एक दिन स्नान के बाद मुझे अपने पास ले आने को कहा। वहाँ गोलाप-माँ, योगीन-माँ उपस्थित थीं। स्नान कराकर लाने का अर्थ वे जानती थीं। किसी कारणवश उन दिनों माँ सद्य:-विधवा लड़कियों पर कृपा नहीं करती थीं। माँ को यह बात याद दिलाने पर वे बोलीं – "इसके लिए नहीं है।" उनकी अयाचित कृपा से मैं धन्य हो गयी।

निर्दिष्ट दिन मैं अपने मास्टर महाशय के साथ बागबाजार स्थित उद्‌बोधन गयी। किसी कारण से हमारे पहुँचने में कुछ देरी हुई थी। देखा पूजनीय शरत् महाराज बड़े उद्विग्न होकर सामने के रास्ते पर टहल रहे हैं। हमें आते देखकर उन्होंने नाराजगी-पूर्वक ठीक समय पर न आने के लिए हमें मीठी-सी झिड़की दी। उन्होंने बताया कि श्रीमाँ हमारी प्रतीक्षा कर रही हैं। मास्टर महाशय द्वारा विनयपूर्वक देरी का कारण बताने पर आश्वस्त होकर उन्होंने मुझे ऊपर पहुँचा देने को कहा।

मैं ऊपर गयी, माँ पूजा के आसन पर बैठी थीं, पास ही एक और आसन बिछा था। उनकी स्निग्ध दृष्टि में कोई शिकायत नहीं, अपितु स्नेहपूर्ण आह्वान का भाव था! मेरा शिशु-मन आनन्द से परिपूर्ण हो उठा। माँ ने उठकर दरवाजा बन्द किया, वहाँ और कोई नहीं था। केवल मैं और माँ थीं। मुझे दूसरे आसन पर बैठने को कहकर उन्होंने स्वयं पूजा के आसन पर बैठकर कुछ देर पूजा की। मैं पास बैठकर सोच रही थी – माँ मुझे मंत्रदीक्षा तो देंगी, परन्तु वह कौन-सा मंत्र होगा! मेरा तो ठाकुर के प्रति इतना आकर्षण है, अन्य कोई मंत्र मिलने पर क्या उसमें अनुराग होगा? अन्तर्यामिनी जगदम्बा मेरे मन की बात समझ गयीं। पूजा समाप्त करके मुझे विस्मय में डुबोती हुई वे बोलीं – "अरे, ठाकुर को छोड़कर हम लोगों का और कौन है? तू जो चाहती है, वही नाम पायेगी।" मै तो अवाक् हो गयी! मैं महामाया के द्वारा महामंत्र में दीक्षित हुई। उन्होंने स्नेहपूर्वक हाथ में जप करना सिखा दिया। फिर हाथ में कुछ फूल देकर उन्होंने गुरु-पूजा करने को कहा। मैं तो जानती ही न थी कि पूजा कैसे करनी होगी। मुझे असमंजस में देखकर माँ ने अपने दोनों श्रीचरण बढ़ाकर पुष्पांजलि देने को

कहा। मैंने जी-भर अर्घ्य दिया। मेरे हाथों में एक हरीतकी देकर उन्होंने गुरु-दक्षिणा देने को कहा। दोनों हाथ फैलाकर माँ ने उसे ग्रहण किया। मैं पुन: कृतार्थ हुई। माँ ने कहा कि मैं नीचे जाकर प्रसाद ग्रहण करूँ और घर लौटने के पूर्व एक बार फिर उनसे मिलकर जाऊँ।

प्रसाद पाने के बाद मैंने थोड़ी देर विश्राम किया। उसी समय श्रीमाँ भी विश्राम करती थीं। समय होने पर सबके साथ मैं भी उनका दर्शन करने ऊपर गयी। मैंने उन्हें जी-भर प्रणाम किया। माँ ने मास्टर महाशय को कह दिया कि बीच बीच में वे मुझे उनके पास लाते रहें। और लौटने के पूर्व शरत् महाराज से मिलकर जाने को कहा। पूजनीय शरत् महाराज को प्रणाम करने पर उन्होंने माँ का एक छोटा-सा चित्र देकर कहा – "इसे आँचल में छिपाकर ले जाओ, किसी को दिखाना मत।" लगता है यह माँ का ही निर्देश था। मैं पूरी तौर से कृतकृत्य होकर घर लौटी।

इसके बाद अनेकों बार बागबाजार में माँ के दर्शन और प्रणाम का सौभाग्य मिला था। उनकी दृष्टि का विमल स्नेह हृदय को मथ डालता था। उनके सम्बोधन में कैसा अपनत्व का भाँव था! और उनके दोनों श्रीचरण कैसे कोमल और गुलाबी आभा लिये हुए थे! मुँह से कुछ कहने की जरूरत ही नहीं थी, वे अन्तर्यामिनी थीं, सब जान जाती थीं। उनके चरणों में बैठकर मैं उनके डकैत पिता की पढ़ी हुई कहानी पर विचार करने लगी – क्या ये वे ही माँ हैं, जिन्हें डकैत ने पकड़ा था? माँ ने उसे कालीरूप में दर्शन देकर कृतार्थ किया था। माँ बोल उठी – "हाँ रे, मैं ही उस डकैत की बेटी हूँ, तुम्हारे ठाकुर मेरे डकैत पिता का कितना सम्मान देते थे!" माँ कितनी सहज़ और कितनी साधारण हैं! यदि स्वयं न समझा दें, तो उन्हें जानने का कोई उपाय नहीं।

अपने व्यक्तिगत जीवन में मैंने सर्वदा उनकी अहैतुक कृपा का अनुभव किया है, अब भी करती हूँ। मेरी विवाह करने की कोई इच्छा नहीं थी। पिता मुझसे बड़ा स्नेह करते थे। न जाने क्यों, बाकी भाई-बहनों की अपेक्षा मेरा उन पर कुछ ज्यादा ही अधिकार था। मेरे मत का वे सम्मान करते थे, कभी बलपूर्वक कुछ थोपते नहीं थे। उस काल के समाज में किसी कन्या का अविवाहित रह जाना अकल्पनीय था। परिवार के बुजुर्गों द्वारा शिकायत करने पर भी वे मेरे विषय में सोचकर निर्विकार रहते। बाद में सबकी चिन्ता देखकर यह निश्चित किया गया कि समस्या के समाधान हेतु मुझे बागबाजार में माँ के पास ले जाया जायेगा। पिता द्वारा इस निर्णय की सूचना देने पर, अनिच्छा के बावजूद मुझे राजी होना पड़ा। उस समय मेरी आयु बढ़कर करीब १६-१७ साल हो चुकी थी। उन दिनों के समाज में यह पतन-जैसा माना जाता था।

माँ ने पूरे धैर्यपूर्वक मेरी इच्छा सुनी। फिर थोड़ी देर चुप रहने के बाद बोलीं – "देखो, तुम गृही बनोगी और जिसके साथ तुम गृहस्थी बसाओगी, वह भी तुम्हारे ही भाव का होगा।" क्या माँ ने अपनी इस छोड़ी बच्ची के लिये योग्य पात्र भी चुन रखा था! परवर्ती काल में जिनके साथ मेरा भाग्य जुड़ा, उनके बारे में संक्षेप में कुछ कहना उचित होगा। वे थे स्वर्गीय खगेनचन्द्र राय। मठ के बड़ों में वे खगेन बाबू के नाम से परिचित थे। उनका बचपन तथा कैशोर्य बहरमपुर (मुर्शिदाबाद) में बीता था। पास ही सारगाछी आश्रम है, जहाँ से अखण्डानन्द जी ने सेवाकार्य शुरू किया था। उसके आसपास के कितने ही नवयुवक उनके प्रति आकृष्ट होकर ठाकुर-स्वामीजी के भावानुरागी हुए हैं। तरुण खगेन बाबू भी उन्हीं में से एक थे। अखण्डानन्द जी ने ही उन्हें बागबाजार में श्रीमाँ के पास भेजा था। वे भी माँ की कृपा पाकर धन्य हुए। अब सोचती हूँ क्या यह सब अलौकिक नहीं है! यह केवल उनकी कृपा से ही सम्भव हुआ है।

कर्मवाद और पुनर्जन्म (३)

स्वामी आत्मानन्द

पुनर्जन्म का सिद्धान्त शरीर और मन से भिन्न, और उन दोनों से परे, आत्म-तत्त्व की सत्ता को स्वीकार करता है। भले ही आत्मा के सम्बन्ध में विभिन्न भारतीय दर्शन भिन्न-भिन्न मत का पोषण करते हों, पर इस विषय में वे सभी एकमत हैं कि आत्मा शरीर और मन से परे है। शरीर और मन जड़ है – शरीर स्थूल जड़ है, तो मन सूक्ष्म जड़ है, पर आत्मा चैतन्यवान है। जड़ता की स्थूलता और सूक्ष्मता की कसौटी यह है कि स्थूल जड़ आत्मा के चैतन्य को प्रतिबिम्बित नहीं कर पाता, जबकि सूक्ष्म जड़ इस चैतन्य को प्रतिबिम्बित कर सकता और करता है। धूल-कीचड़ से सना काँच जैसे रोशनी को फेंक नहीं पाता, पर वही साफ-सुथरा हो जाने पर जैसे रोशनी को पूरी मात्रा में प्रतिफलित करता है, उसी प्रकार वासनाओं से गन्दा हुआ मन आत्म-ज्योति को विशेष रूप से प्रतिफलित नहीं कर पाता, पर जब वही शुद्ध हो जाता है, तो आत्म-ज्योति को इस प्रकार प्रतिफलित करता है कि वह आत्मरूप ही हो जाता है, जैसे स्फटिक के आगे किसी रंग-विशेष का फूल रख देने से स्फटिक उसी रंग का हो गया दिखायी देता है। देह और मन का बोध हमें होता है, उनके परिवर्तनों का हम अनुभव करते हैं। आत्मा वह है, जो मन और देह के परिवर्तनों का अनुभव करता है और इसलिये जो स्वयं अपरिवर्तनशील है। जैसे, हम नदी के किनारे खड़े होकर बहते हुये जल को देखते हैं। जल का परिवर्तन इसलिये दिखायी देता है कि हम उसकी तुलना में अपरिवर्तनशील तट पर खड़े हो उसका परिवर्तन देखते हैं। सिनेमा में हम परदे पर एक कहानी को प्रतिफलित होते देखते हैं। पीछे देखें, तो छोटी-छोटी फिल्में तीव्र वेग से घूमती दिखाई देती हैं। अलग-अलग फिल्म को देखें, तो उनमें कोई शृंखला या कहानी नहीं दिखती। पर जब इन्हीं अलग-अलग टुकड़ों को तीव्रता से घुमाकर परदे पर प्रतिफलित करते हैं, तो एक कहानी दिखाई देती है। यदि परदा स्थिर न हो हिलता-डुलता रहे, तो कहानी ठीक से दिखाई नहीं देती। इसी प्रकार देह और मन के परिवर्तनों को एक में गूँथकर एक अर्थपूर्ण कहानी प्रस्तुत करनेवाला जो स्थिर परदा है, उसे हम आत्मा कहते हैं। यह आत्मा अपरिवर्तनशील है, और जो अपरिवर्तनशील होता है, वह अविनाशी होता है। अविनाशी वही हो सकता है, जो सर्वव्याप्त हो। अतः आत्मा सर्वव्यापी है।

अब यदि आत्मा सर्वव्यापी है, तो मनुष्य के मरने पर क्या होता है? हिन्दू दर्शन ने तीन शरीर माने हैं। एक तो यह ऊपर दीखने वाला स्थूल शरीर है। इसके पीछे अन्तःकरण की वृत्तियों और तन्मात्राओं से बना सूक्ष्म शरीर है तथा इसके भी पीछे संचित संस्कारों का कोषस्वरूप कारण शरीर है। जैसे स्थूल शरीर क्रियमाण संस्कारों का वाहन है, वैसे ही सूक्ष्म शरीर प्रारब्ध संस्कारों का और कारण शरीर संचित संस्कारों का। सूक्ष्म शरीर को ही बोलचाल की भाषा में मन या अन्तःकरण कह देते हैं। इसे लिंग शरीर के नाम से भी पुकारते है। स्थूल शरीर, जैसा कि हमने कहा, स्थूल जड़ है, वह आत्म-ज्योति को प्रतिफलित नहीं कर पाता तथा सूक्ष्म शरीर या मन सूक्ष्म जड़ है। आत्मा सर्वव्यापी और विभु होने के कारण शरीर में ओत-प्रोत रूप से विद्यमान है। शरीर के मरने के बाद जो आवागमन की क्रिया की होती है, वह आत्मा में नहीं बल्कि सूक्ष्म शरीर में होती है। जैसे एक घड़े को उठाकर हम दूसरे स्थान में ले जायँ, तो इससे उस घड़े के भीतर का आकाश नहीं चलता, पर घड़े के चलने के कारण उस घटाकाश पर भी चलने का व्यवहार हो जाता है, उसी प्रकार स्थूल शरीर के नाश के बाद सूक्ष्म शरीर कारण शरीर के साथ दूसरी देह में आना-जाना करता है, आत्मा नहीं। पर चूँकि आत्मा उसमें व्यापक रूप से स्थित है, इसलिये उस पर भी सूक्ष्म शरीर की क्रिया का व्यवहार करा दिया जाता है। वस्तुतः आत्मा में किसी प्रकार की क्रिया नही होती। सूक्ष्म शरीर आत्मा के चैतन्य को प्रतिबिम्बित करता है और इसलिये वह आत्मा के समान ही चेतन मालूम पड़ता है, यह हम ऊपर कह चुके हैं। जब हम आत्मा को सूक्ष्म शरीर की उपाधि से युक्त करते हैं, तो उसे 'जीवात्मा' कहकर पुकारते हैं। वास्तव में कर्तापन और भोक्तापन सूक्ष्म शरीर में होता है और चूँकि अज्ञान दशा में यह सूक्ष्म शरीर आत्मा से सम्बद्ध मान लिया जाता है, इसलिये जीवात्मा ही कर्ता और भोक्ता उपाधियों से युक्त होता है। पाप-पुण्य इसी जीवात्मा को लगते हैं। कर्मों के संस्कार इसी सूक्ष्म शरीर में आकर लगते हैं। एक स्थूल शरीर के नष्ट होने पर यह सूक्ष्म शरीर अपने भोग के लिये, अपने संस्कारों के अनुसार, एक नये स्थूल शरीर की रचना करता है, जिसे हम पुनर्जन्म की प्रक्रिया कहते हैं।

हमने देखा कि आत्मा सर्वव्यापी और विभु है। प्राणवत्ता और चैतन्य आत्मा का धर्म है। जैसे अग्नि का धर्म है ताप, वैसे ही आत्मा का धर्म है चैतन्य, प्राणवत्ता। पर आत्मा का यह धर्म अन्तःकरण के माध्यम से ही प्रकट होता है। जैसे, विद्युत का एक धर्म है प्रकाश, पर यह धर्म तभी प्रकट होता है, जब उसे लट्टू (बल्ब) आदि का माध्यम प्राप्त होता है। जहाँ भी और जिसमे भी अन्तःकरण होगा या अत्यन्त सरल

शब्दों में कहें, मनोयंत्र होगा, वहीं यह चैतन्य प्रकट होगा, प्राणवत्ता प्रकट होगी। अन्त:करण को सहज-सामान्य रूप से समझने के लिये 'मन' शब्द का उपयोग किया जा सकता है। जहाँ भी और जिसमें भी इस मनोयंत्र की क्रिया होती है, वहाँ और उसमें आत्मा के चैतन्य का प्रतिबिम्ब पड़ने के कारण हम उसे 'जीवित' या 'प्राणयुक्त' या 'चेतन' कहकर पुकारते हैं। और जहाँ मन की क्रिया नहीं है, उसमें आत्मा का चैतन्य भी प्रकट नहीं होता, इसलिये हमें उसे 'निर्जीव' या 'प्राणहीन' या जड़ कहकर सम्बोधित करते हैं। हम मिट्टी के ढेले या पत्थर के टुकड़े को 'निर्जीव' या 'जड़' कहते हैं, क्यों? इसलिये कि उसमें मन की क्रिया को प्रकट करने का साधन नहीं है। अतएव उसमें चैतन्य आवृत्त है या ढँका हुआ है। पाषाण में मनोयंत्र का स्पन्दन नहीं होता, अन्त:करण की स्फुरणा नहीं होती, इसलिये उसमें आत्मचैतन्य का प्रतिबिम्ब भी नहीं पड़ता और इसीलिये उसमें चेतनता नहीं प्रकट हो पाती। वनस्पति में यह मन या अन्त:करण कुछ मात्रा में प्रकट है, अत: वहाँ प्राण की क्रिया दिखाई देती है। प्राणियों में यह मन अधिक स्पन्दनशील है और मनुष्य में आकर तो इस मनोयंत्र का परिपूर्ण विकास साधित होता है। यह अन्त:करण मानव में इतना विकसित हो जाता है कि एक दिन वह आत्मा की परिपूर्ण चैतन्य-ज्योति को प्रतिबिम्बित कर देता है, जैसा कि हम ऊपर कह ही चुके हैं।

अब हम मृत्यु की प्रक्रिया को समझ गये होंगे। यह शरीर तब तक जीवित रहता है, जब तक उसके भीतर यह मन, यह अन्त:करण, यह सूक्ष्म शरीर विद्यमान है; क्योंकि उसी के माध्यम से शरीर में आत्मचैतन्य का प्रतिफलन होता है। जब यह मनोयंत्र (यानि सूक्ष्म शरीर) इस स्थूल शरीर से अपनी क्रिया समेट लेता है और कारण शरीर पर आरूढ़ हो शरीर से निकल जाता है, तो इसके अभाव में आत्मचैतन्य का प्रतिबिम्बित होना बन्द हो जाता है, यानि आत्मा का चैतन्य-धर्म अपने को प्रकट करनेवाले यंत्र के अभाव में पुन: प्रच्छन्न या आवृत्त हो जाता है। जैसे बल्ब के भीतर फिलामेन्ट के टूटने पर, विद्युत के रहते हुये भी उसका प्रकाश-धर्म प्रच्छन्न हो जाता है, वैसे ही। ऐसी दशा में यह शरीर 'निर्जीव' या 'प्राणहीन' या 'जड़' कहकर घोषित होता है, और यही मृत्यु की अवस्था है। ऐसी बात नहीं कि मृत शरीर में से आत्मा चला जाता हो। आत्मा तो सर्वव्यापी है, विभु है; वह भला कहाँ जायेगा? हाँ, उसके चैतन्य को प्रकाशित करने वाला 'अन्त:करण' नामक यंत्र अवश्य चला जाता है। इसलिये कह देते हैं कि 'जीवात्मा' शरीर को छोड़कर चला गया। 'जीवात्मा' और 'आत्मा' इन दो शब्दों का अर्थभेद हम ऊपर स्पष्ट कर ही चुके हैं। इस 'जीवात्मा' को ही 'जीव' भी कहा जाता है। 'अमीबा' इसी जीव का क्रम-संकुचित रूप है।

गीता में 'मृत्यु' और 'पुनर्जन्म' की उपमा व्यक्ति के जीर्ण वस्त्र त्यागने और नये वस्त्र पहनने से दी गई है। वहाँ (२/२२) कहा गया है –

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ।।

– "जैसे मनुष्य फटे-पुराने कपड़ों को त्यागकर अन्य नये कपड़े पहन लेता है, वैसे ही यह शरीरी आत्मा भी जीर्ण शरीरों को छोड़कर अन्य नये शरीरों में प्रवेश कर जाता है।"

इसी प्रकार महाभारत पुनर्जन्म की उपमा नये घर में प्रवेश करने से देता है। वहाँ शान्तिपर्व के १५वें अध्याय में आया है –

यथा हि पुरुषः शालां पुनः सम्प्रविशेन्नवाम्।
एवं जीवः शरीराणि तानि तानि प्रपद्यते ।। ५७ ।।
देहान् पुराणान् उत्सृज्य नवान् सम्प्रतिपद्यते।
एवं मृत्युमुखं प्राहुर्जना ये तत्त्वदर्शिनः ।। ५८ ।।

– 'जैसे मनुष्य बारम्बार नये घरों में प्रवेश करता है, उसी प्रकार जीव भिन्न भिन्न शरीरों को ग्रहण करता है। पुराने शरीरों को छोड़कर नये शरीरों को अपना लेता है। इसी को तत्त्वदर्शी मनुष्य मृत्यु का मुख बताते हैं।'

पर श्रीमद्भागवत और बृहदारण्यक उपनिषद् में मरणान्तर गति के लिये जोंक का उदाहरण दिया गया है। भागवत के दसवें स्कन्ध में कहा गया है – **यथा तृणजलूकैवं देही कर्मगतिं गतः** – 'जैसे जोंक किसी अगले तिनके को पकड़ लेती है, तब पहले के पकड़े हुये तिकने को छोड़ती है, वैसे ही जीव भी अपने कर्म के अनुसार भिन्न-भिन्न गतियों को प्राप्त होता है।' बृहदारण्यक उपनिषद् का कहना है – **यथा तृणजलायुका तृणस्यान्तं गत्वा अन्यम् आक्रमन् आक्रम्य आत्मानं उपसंहरति** – 'जिस प्रकार जोंक एक तृण के अन्त में पहुँचकर दूसरे तृण-रूप आश्रय को पकड़कर अपने को पहले तृण से सिकोड़कर अलग कर लेती है, इसी प्रकार यह आत्मा शरीर के नाश होने के समय अनजान रीति से दूसरी देह का आश्रय करने के पश्चात् पूर्व देह से अपने आप को समेट लेता है।' अब, वस्त्र और घर का उदाहरण तो समझ में आता है, पर जोंक का उदाहरण एक नयी कठिनाई प्रस्तुत करता है। जोंक को चलने के लिये आगे का भी तिनका चाहिये और पीछे का भी। तो क्या इसका तात्पर्य यह है कि देही को, जीव को, मृत्यु से पूर्व ही एक नया शरीर चाहिये? यदि ऐसा हो, तो लाखों-करोड़ों सूक्ष्म शरीर एक साथ तैयार कहाँ मिलेंगे? प्रतिपल भिन्न-भिन्न योनियों के असंख्य शरीर नष्ट हो रहे हैं, तो इन सबके लिये भी नये शरीर भी पहले से

तैयार चाहिये। फिर, इन असंख्य सूक्ष्म शरीरों को बनाकर कहाँ पर रखा जाय, क्योकि स्थूल शरीर तो जीव के गर्भ में प्रवेश करने के बाद ही तैयार होता है? उपर्युक्त दोनो दृष्टान्तों की संगति कैसे बिठायी जाय? शरीरान्तर-प्राप्ति का सही क्रम किसे समझा जाय?

इस पर आचार्य शंकर ने ब्रह्मसूत्र पर अपने शारीरक भाष्य में अच्छी तरह विचार किया है। उन्होंने अनेक प्रमाणों से यह सिद्ध किया है कि शरीरान्तर-ग्रहण न तो देह-त्याग से पूर्व होता है, न वस्त्र की तरह तत्काल ही। वह तो उपनिषदों में वर्णित पंचाग्नि-क्रम से होता है। स्वर्ग, पर्जन्य, पृथ्वी, पुरुष और स्त्री ये पाँच अग्नियाँ हैं, जिनमें से होकर जीव को शरीर छोड़ने के उपरान्त जाना पड़ता है, तब कहीं उसे अगला शरीर प्राप्त होता है। स्वर्ग का तात्पर्य है चन्द्रलोक से। चन्द्रमा मन का देवता है। श्रुति कहती है – **चन्द्रमा मनसो जातः** – 'चन्द्रमा मन से उत्पन्न हुआ है।' इसका अर्थ यह है कि मन का चन्द्रमा से सतत सम्बन्ध बना हुआ है। जब मनुष्य की मृत्यु होती है, तो उसका स्थूल शरीर यहीं नष्ट हो जाता है, पर सूक्ष्म शरीर, जिसे हम साधारणतया मन कहकर अभिहित किया करते हैं, कारण-शरीर के साथ ऊर्ध्वलोक में गमन करता है। इसी को हम 'जीव' कहकर पुकारते है। यह जीव ऊर्ध्वलोक से वर्षा के द्वारा पृथ्वी पर पतित होता है और किसी वनस्पति में समा जाता है। पुरुष के उस वनस्पति के भक्षण करने पर जीव पुरुष में आ जाता है और उसके शुक्र के माध्यम से स्त्री में प्रवेश करता है। स्त्री के गर्भ में पुरुष का वीर्य जब स्त्री के रज से संयुक्त होता है, उसी क्षण जीव को माता के गर्भ में अपने अगले स्थूल शरीर का बीज प्राप्त हो जाता है, जो काल में विकसित होकर प्रसव-मार्ग द्वारा गर्भ से बाहर आता है। गर्भ में इस जीव को पिता के शुक्र से पिता के तथा माता के रज से माता के कुछ शारीरिक और मानसिक संस्कार प्राप्त होते हैं, जिसे हम आधुनिक मनोविज्ञान की भाषा में Hereditary transmisson (आनुवंशिक क्रम) कहते हैं। जब वह गर्भ से बाहर निकलकर क्रमशः विकास को प्राप्त होता है, तो अपने संस्कारों को लेकर तो बढ़ता ही है, साथ ही उस पर माता और पिता के संस्कारों की भी छाप होती है। माता-पिता के साथ बरसों के घनिष्ठ सम्पर्क से उनकी आदतों की छाप भी सन्तान पर लग जाया करती है। जीव के द्वारा विशिष्ट माता-पिता का यह जो चुनाव है, वह भी उसके 'प्रारब्ध' के द्वारा ही नियंत्रित होता है। इस प्रारब्ध को हम सामान्य भाषा में 'भाग्य' कह दिया करते हैं। पर 'भाग्य' शब्द से ऐसा कुछ सूचित होता है, जिसमें परवशता हो, जिसमें वैज्ञानिकता नाम की कोई वस्तु न हो। पर ऐसी बात नहीं। प्रारब्ध की यह प्रणाली पूरी तरह वैज्ञानिक है।

पहले जीवशास्त्री मनुष्य, मनुष्य के बीच अन्तर को आनुवंशिकता और वातावरण के सिद्धान्त के बल पर प्रतिपादित किया करता था, पर आनुवंशिकता के सिद्धान्त के बल पर अति सामान्य बाते ही समाझायी जा सकती है। आधुनिक जीवशास्त्री प्रातिभबुद्धि या मन्दबुद्धि बालक के जन्म का कोई सन्तोषजनक स्पष्टीकरण नही दे सकता। शिशु के जन्म मे वह आकस्मिकता को ही प्रधान मानता है। जूलियन हक्सले 'What dare I think' नामक अपने ग्रन्थ में लिखते है – "Egg and sperm carry the destiny of generations. The egg realizes one chance combination out of an infinity of possibilities, and it is confronted with millions of pairs of sperms, each one actually different in the combination of cards which it holds. Then comes the final moment in the drama – the marriage of egg and sperm to produce the beginning of a large individual ... Here, too, it seems to be entirely a matter of chance which particular union of all the millions of possible unions shall be consummated. One might have produced a genius, another a moron ... and so on ..." – "रज और शुक्र पीढ़ियों के भाग्य का चयन करते हैं। रजकण अनन्त सम्भावनाओं में से आकस्मिक रूप से किसी एक समवाय के सम्मुखीन होता है और वह लक्ष-लक्ष शुक्र-युग्मो से घिर जाता है। इनमें से हर शुक्र-युग्म दूसरे से सर्वथा भिन्न होता है। तब नाटक का अन्तिम क्षण उपस्थित होता है, जब रजकण और शुक्रकण एक विशाल व्यक्तित्व के प्रारम्भ को उत्पन्न करने के लिये परस्पर विवाहित हो मिलित होते हैं। यहाँ भी यह पूर्णतः संयोग ही की बात है कि सम्भावित लक्ष-लक्ष जोड़ो मे से कौन-सा जोड़ा विवाह की सार्थकता को प्राप्त करेगा। एक जोड़ा सम्भवतः एक प्रातिभबुद्धि जो जन्म दे सकेगा, दूसरा एक मन्दबुद्धि को ... आदि आदि।"

अब, जूलियन हक्सले के समान यह मानना कि एक प्रातिभबुद्धि या मन्दबुद्धि का जन्म शुक्र और रज के मात्र आकस्मिक संयोग का परिणाम है, एक जाने-पहचाने तथ्य का लचर स्पष्टीकरण है। इसका अर्थ मानो यह कहना है कि 'मैं सही कारण को नही जानता।' इस विश्व में, जहाँ सब कुछ कार्यकारण नियम के द्वारा नियंत्रित है, संसार में सबको दिखाई पड़नेवाले तथ्य को आकस्मिकता का जामा पहना देना अस्तित्व और जीवन की गहराइयो में पैठने की असमर्थता को ही प्रकट करता है। आकस्मिकता का दामन थामना भाग्यवाद के प्रति समर्पित होने से भी बुरा है।

❖ (क्रमशः) ❖

विवेकानन्द जयन्ती समारोह - २००४

प्रति वर्ष की भाँति इस वर्ष भी रामकृष्ण मिशन, विवेकानन्द आश्रम, रायपुर मे स्वामी विवेकानन्द जयन्ती समारोह सोल्लास मनाया गया। इस उपलक्ष्य मे युवकों के व्यक्तित्व-विकास हेतु कई स्तरों पर विभिन्न प्रकार की प्रतियोगिताएँ आयोजित की गई, जिनमें विभिन्न विद्यालयों, महाविद्यालयो एवं रविशंकर विश्वविद्यालय के छात्रों ने सोत्साह भाग लिया और विभिन्न विषयों पर अपने बहुमूल्य विचार-सुमन प्रस्तुत किये। हम उन्ही महत्त्वपूर्ण विचारों को संक्षेपत: प्रस्तुत कर रहे हैं –

१२ जनवरी २००४ को विवेकानन्द आश्रम और रविशंकर विश्वविद्यालय के संयुक्त तत्त्वावधान में रविशंकर विश्वविद्यालय के प्रांगण में प्रात: ९ बजे 'राष्ट्रीय युवा दिवस' मनाया गया। इसमे विश्व-विद्यालय एवं उनकी सभी राष्ट्रीय सेवा योजना की स्थानीय इकाइयो ने सोत्साह भाग लिया। इस कार्यक्रम मे विवेकानन्द आश्रम के सचिव स्वामी सत्यरूपानन्द जी एवं रविशंकर विश्वविद्यालय के कुलपति प्रो. बी. पी. चन्द्रा ने 'युवको का चरित्र-निर्माण' विषय पर व्याख्यान दिए।

> **मन को सर्वोच्च विचारों से भर लो, दिन पर दिन सब भाव सुनते रहो, मास पर मास इसी का चिन्तन करो। पहले पहल सफलता न भी मिले; पर कोई हानि नहीं यह असफलता तो बिलकुल स्वाभाविक है, यह मानव-जीवन का सौन्दर्य है।**
>
> **– स्वामी विवेकानन्द**

उसी दिन शाम को ६ बजे आश्रम के सत्संग भवन में अन्तर्महाविद्यालयीन विवेकानन्द भाषण प्रतियोगिता आयोजित की गई, जिसका विषय था – **'स्वामी विवेकानन्द जी के सन्देशों की प्रासंगिकता'**। विषय-प्रतिपादन करते हुए **कु. कल्पना मिश्रा** ने कहा– "जब तक भारत है, जब तक मनुष्य, मानवता और मानव के मूलभूत गुणों का महत्त्व है, तब तक स्वामी विवेकानन्द जी के सन्देशों की प्रासंगिकता है। जब तक गीता व उसके कर्मफल के सिद्धान्त का महत्त्व है, जब तक आत्मविकास एवं आत्मविश्वास की आवश्यकता है, जब तक युवाशक्ति है तथा वह अपनी ऊर्जा राष्ट्रीय विकास एवं राष्ट्रीय सुरक्षा हेतु सर्वस्व न्यौछावर करने को समर्पित है, तब तक स्वामीजी के सन्देशों की प्रासंगिकता है। उनके सन्देश कपोल-कल्पित नहीं, बल्कि सत्य के धरातल पर सुप्रतिष्ठित है. अत: ये सदैव प्रांसगिक रहेंगे।" **सन्तोष पण्डा** ने कहा – "स्वामीजी का सन्देश तरुणों को शक्तिशाली बनाने, उनमे आत्मविश्वास जगाने, गरीबी, जाति-भेद आदि मिटाने, निम्न स्तर के लोगो को ऊपर उठाने तथा राष्ट्र को उन्नत करने का था, जो आज भी प्रासंगिक है। स्वामीजी ने दृढ़ संकल्प शक्ति मे सम्पन्न १०० युवको की माँग की थी, लेकिन हमारा देश उसे भी देने में असफल रहा।" **मुहम्मद फैज़ खान** ने कहा – "स्वामीजी का मानवतावाद अनन्त काल तक प्रासंगिक रहेगा।" **नकुल राम साहू** ने कहा – "स्वामीजी का नव-वेदान्त 'दरिद्रदेवो भव, मूर्खदेवो भव, चाण्डाल-देवो भव' रूपी मंत्रो को सद्य: प्रासंगिक बनाता है।" शिवानन्द चौबे ने कहा – "वीर बनो, शक्तिमान बनो, मानवता की सेवा मे लग जाओ – स्वामीजी का यह उद्घोष ही भारतीय संस्कृति का सच्चा आदर्श है।" **कु. दिव्या सुधीर** ने कहा – "स्वामीजी द्वारा प्रतिपादित नारी-शिक्षा, राष्ट्रीय समृद्धि, विश्वप्रेम, युवको मे शौर्य और पौरुष की सम्प्रेरणा सदैव प्रासंगिक रहेंगे।" उन्होने कहा – "परप्रेम पुण्य है, दूसरो से घृणा पाप है। विश्वास पुण्य और सन्देह पाप है, एकता-संगठन ही पुण्य और अनेकता-विखण्डन ही पाप है।" इस सत्र की अध्यक्षता श्री ए. एस. चौहान ने की।

१३ जनवरी को 'अन्तर्महाविद्यालयीन तात्कालिक भाषण प्रतियोगिता' का आयोजन किया गया। **'२१वीं सदी की पारिवारिक स्थिति'** पर विचार प्रगट करते हुए **अमितेश शर्मा** ने कहा – "परिवार शिक्षा की प्रथम कुंजी है, अत: परिवार को सुशिक्षित होना चाहिए और हमे आपसी स्वार्थ को छोड़कर परस्पर प्रेम के साथ जीना सीखना होगा।" **सन्तोष पण्डा** ने कहा – "२१वी सदी मे बड़ो के प्रति सम्मान, नारियो के प्रति श्रद्धा और परस्पर प्रेम का ह्रास हुआ है। यदि वैज्ञानिक विकास के साथ हमारा नैतिक विकास तथा पूर्वोक्त सम्मान, श्रद्धा और प्रेम का भी विकास हो तो सोने मे सुहागा हो जायेगा।" **कु. कल्पना मिश्रा** ने 'युवाशक्ति' पर स्वोद्गार में कहा – "युवाशक्ति असीमित ऊर्जा है, जिससे राष्ट्र का निर्माण और समाज व संस्कृति का विकास होता है। युवा पीढ़ी दूसरो पर दोषारोपण छोड़कर अपनी शक्ति देश तथा समाज के निर्माण मे नियोजित करे।" इस सत्र की अध्यक्षता

प्रो. जे. एल. भारद्वाज ने की।

१४ जनवरी को अन्तर्महाविद्यालयीन वाद-विवाद प्रतियोगिता का आयोजन किया गया, जिसका विषय था – **'इस सदन की राय में धर्मविहीन राजनीति देश के लिये अहितकर है।'** विषय के पक्ष में अपना मत व्यक्त करते हुए रविशंकर विश्वविद्यालय के **अखिल श्रीवास्तव** ने कहा – "धर्म से व्यक्ति सन्मार्गी एवं परस्पर प्रेमी होता है। धर्म से रामराज्य की स्थापना होती है। धर्म ने सम्राट् अशोक को भिक्षु बना दिया। कोई भी धर्म किसी का गला काटना नहीं सिखाता। यदि राजनीति में धर्म होता तो मीरा को विषपान नहीं करना पड़ता, द्रौपदी का चिर-हरण नहीं होता, महात्मा गाँधी को गोली नहीं लगती और महाभारत का युद्ध भी नहीं होता। गोस्वामी तुलसीदास जी ने **'परहित सरिस धर्म नहीं भाई'** और पुष्पदंत ने **'रुचीनां वैचित्र्यात्'** कहकर सार्वजनीन एकत्व का उद्घोष किया। अत: धर्म के बिना राजनीति अपनी प्रजा को आदर्श एवं शान्तिमय जीवन नहीं प्रदान कर सकती।" **अमीर हैदर अली** ने पक्ष में विचार व्यक्त करते हुए कहा – "सर्वश्रेष्ठ अच्छाइयों के मनकों से पिरोकर बनी माला ही धर्म है। धर्म में करुणा, प्रेम, बलिदान और इन्सानियत होती है। यदि राजनीति में यह आ जाय तो पृथ्वी स्वर्ग बन जायेगी।" **कु. कनकलता** ने कहा – "धर्म जीवन का सार है। धर्म से भ्रष्टाचार का निरोध और नैतिकता का विकास होगा। धर्म राजनीति के कीचड़ में कमल के सरीखा है।" **कु. ललिता शर्मा** ने विपक्ष में बोलते हुए प्रश्न उठाया – "राजनीति में आकर धर्म गूँगा-बहरी क्यों हो जाता है? धर्म के कारण ही अयोध्या, गोधरा तथा स्वर्ण-मन्दिर की घटनाएँ हुईं, जिससे अनेकों माँ-बहनों के सुहाग उजड़ गये।" **दीप कुमार पाण्डेय** ने पक्ष में कहा – "धर्म व्यक्ति को समाज से जोड़ता है। धर्ममय राजनीति से समाज का विकास होता है।' **कु. दिव्या मथानी** ने कहा – "धर्म एक व्यवस्था है। भूखों को भोजन, निर्वस्त्र को वस्त्र, अशिक्षित को शिक्षा और रोगी को औषधि देना धर्म है। यदि हमारे नेतागण इसे समझ जायँ, तो देश का विकास होगा।" इस सत्र की अध्यक्षता श्री आर. जी. भावे ने की।

१५ जनवरी को अन्तर्विद्यालयीय वाद-विवाद प्रतियोगिता का आयोजन किया गया, जिसका विषय था – **'इस सदन की राय में जातिवाद पर आधारित राजनीति देश के लिये अहितकर है।'** प्राय: सभी प्रतियोगियों ने जातिवाद की राजनीति को उखाड़ फेंकने और मानवतावाद की राजनीति को लागू करने पर बल दिया। **मयंक श्रीवास्तव** ने कहा – "प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से केवल अपनी जाति को लाभ पहुँचाना ही जातिवाद है। साँप के जहर और सिंह के नखों के विष से भी अधिक प्राणघातक है जातिवाद का जहर। जातिवाद का जहर इन्सान को मार सकता है। यह जहर ऐसा प्राणघातक है कि इसके कारण भारतवर्ष २०२० क्या ३०२५ में भी विकसित राष्ट्र नहीं बन सकता।" **विवेक साहू** ने कहा – "नेपोलियन बोनापार्ट ने इसे सिद्ध कर दिया है कि राजनीति किसी जाति-धर्म की बपौती नहीं है। जातिवाद के कारण ही तालीबानी विध्वंस हुआ। जब तक व्यक्ति के हृदय में देशभक्ति, मानव के प्रति प्रेम और त्याग का भाव न हो, तब तक वह किसी भी जाति का क्यों न हो, विकास नहीं कर सकता।" **कु. रोशनी** ने कहा – "जातिवाद संकीर्ण मानसिकता का द्योतक है। राम और कृष्ण ने जातियों का समन्वय किया।" **कु. डाली** ने कहा – "बंगला देश हमारा था, पाकिस्तान हमारा था, लेकिन जाति-धर्म के कारण हमने इन्हें खो दिया।" **रोहित जोशी** ने कहा – "जातिवाद पर आधारित राजनीति व्यक्ति और समाज के लिए अहितकर है। यह मानव मानव के बीच भेद उत्पन्न कर उनमें परस्पर शत्रुता पैदा करता है।" इस सत्र की अध्यक्षता श्री गुलाब सिंह ठाकुर ने की।

१६ जनवरी को अन्तर्विद्यालयीन तात्कालिक भाषण प्रतियोगिता आयोजित की गई। **'नारी-शिक्षा कैसी हो'** – विषय पर विचार प्रकट करते हुए **अनिकेत झा** ने कहा – "नारी-शिक्षा वर्तमान शिक्षा से भी अच्छी हो। नारियों के शिक्षित होने से पूरा परिवार ही शिक्षित होगा। उनके लिए वही शिक्षा उचित होगी, जो उन्हें आत्मनिर्भर बना सके, जिससे वे अपने परिवारिक कर्तव्यों का पालन सही ढंग से कर सकें तथा सामाजिक अन्यायों का डटकर मुकाबला कर सकें।" उदाहरण के रूप में उन्होंने अपनी माँ का उज्जवल दृष्टान्त प्रस्तुत किया। इस सत्र के अध्यक्ष श्री मुरारीलाल शुक्ला थे।

१७ जनवरी को अन्तर्विद्यालयीन विवेकानन्द भाषण प्रतियोगिता आयोजित हुई, जिसका विषय था **'राष्ट्रीय एकता के आधार- स्तम्भ स्वामी विवेकानन्द'**। विषय को प्रतिपादित करते हुए **कु. खिलेश्वरी ध्रुव** ने कहा – "स्वामी विवेकान्द ने पराधीन भारत में राषट्रीय एकता का शंखनाद किया। उन्होंने लोहे की मांस-पेशियों तथा फौलादी भुजाओंवाले, वीर, साहसी, राष्ट्रभक्त, बलिदानी युवकों का आह्वान किया। स्वामीजी ने जाति-धर्म के भेदभाव को भुलाकर शुद्ध आत्मरूप, मानव की दिव्यता का सन्देश दिया। 'उठो जागो' – से सम्बोधित कर युवकों को प्रेरणा दी। देशभक्ति रूपी जमीन पर राष्ट्रीय एकता का बीजारोपण किया।" **तेजेन्द्र सिंह** ने कहा – "स्वामीजी ने मानव-प्रेम, करुणा, त्याग तथा स्व-प्रेरणादायी विचारों से राष्ट्र को एक सूत्र में बाँधा। उन्होंने मानव-सेवा, धार्मिक समन्वय, विश्व-बन्धुत्व का पाठ पढ़ाकर राष्ट्रीय एकता जगायी।" इस सत्र की अध्यक्षता प्रो. पृथ्वी वल्लभ चन्द्राकर ने की।

१८ जनवरी को अन्तर्माध्यमिक शाला विवेकानन्द भाषण प्रतियोगिता हुई, जिसका विषय था – **'मेरे जीवन के आदर्श**

स्वामी विवेकानन्द' । प्राय: सभी छात्रों ने स्वामीजी के त्याग, वैराग्य, निस्वार्थता, सेवा, राष्ट्रीय-जन-जागरण, राष्ट्रभक्ति, परोपकार, गरीबों की सेवा और सर्वधर्म-समन्वयवादी दर्शन भूरि भूरि प्रशंसा की और उन्हें अपने जीवन का आदर्श माना। इस सत्र की अध्यक्षता श्री शैलेन्द्र सर्राफ ने की।

१९ जनवरी को श्री के. एन. बापट की अध्यक्षता में 'अन्तर्माध्यमिक शाला वाद-विवाद प्रतियोगिता' का आयोजन हुआ। विषय था '**इस सदन की राय में जीवन की सफलता के लिये स्वार्थ की अपेक्षा परोपकार अधिक हितकर है।**' विषय के पक्ष में स्वमत व्यक्त करते हुये **कु. लक्ष्मी कांगे** ने कहा – "स्वार्थ में नहीं, अपितु परोपकार में ही जीवन की सार्थकता है। पृथ्वी, जल, हवा, आदि सभी परोपकार कर रहे हैं। गोस्वामी तुलसीदास जी ने 'परहित सरिस धर्म नहीं भाई' से परोपकार की महत्ता का विशेष उल्लेख किया है।" कु. आकांक्षा परिहार ने कहा – "अपनी धन-सम्पत्ति से दूसरों की आवश्यकता की पूर्ति में सहायता करना ही परोपकार है। कविवर मैथिली शरण गुप्त कहते हैं – यही पशु-प्रवृत्ति है कि आप आप ही चरे। वही मनुष्य है कि जो मनुष्य के लिए मरे।" विषय के विपक्ष में अपनी बात बड़े ही तार्किक ढंग से प्रस्तुत करते हुए प्रथम पुरस्कार पानेवाली **कु. शिवना तिवारी** ने कहा – "यह सारा संसार स्वार्थी है, नदी न बहे तो गन्दी हो जायेगी, हवा न बहे तो दूषित हो जायेगी, अत: अपने अस्तित्व की सुरक्षा हेतु सभी कार्यरत हैं। अपने शुद्ध रूप को बनाये रखना ही उन सबका स्वार्थ है। यहाँ तक कि 'सुर नर मुनि सब की यही रीती। स्वारथ लागि करहिं सब प्रीती'।" **कु. पूजा दुबे** ने कहा – 'परोपकार ही आदर्श है, स्वार्थ नहीं। परोपकार से विश्वबन्धुत्व का प्रेम झलकता है। श्रीराम, हरिश्चन्द्र, दधीचि और भगीरथ ने परोपकार का मार्ग अपनाया।"

२० जनवरी को 'अन्तर्प्राथमिक पाठ-आवृति प्रतियोगिता आयोजित हुई, जिसकी अध्यक्षता प्रमिला सिंह ने की। इसमें **कु. पारुल ठाकुर** ने स्वामीजी के 'राष्ट्रभक्ति के आदर्श' का और **सुशान्त झा** ने 'भगवान अनन्त शक्तिमान हैं, वे मेरी सहायता अवश्य करेंगे' – स्वामीजी के उद्धरण का जोशीले शब्दों में पाठ किया। अपने अध्यक्षीय भाषण में श्रीमती सिंह ने कहा –"बच्चों के व्यक्तित्व के विकास में माता-पिता और शिक्षकों का महत्त्वपूर्ण योगदान होता है। वे बच्चों को निर्भय होकर बोलने का अवसर प्रदान करें तथा उन्हें प्रेम तथा सद्भावना की शिक्षा दें।"

२१ जनवरी को श्री के. के. चक्रवर्ती द्वारा सभी विजेता प्रतियोगियों को पुरस्कार प्रदान किया गया।

(प्रस्तुति - वनसिंह और फूलचन्द कांगे - विवेकानन्द विद्यार्थी भवन, रायपुर)